बच्चों की शिक्षा ही नहीं दीक्षा भी आवश्यक

—भगवती देवी शर्मा

बच्चों की शिक्षा ही नहीं, दीक्षा भी आवश्यक

✦

लेखिका :

भगवती देवी शर्मा

✦

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ **मूल्य : ९.०० रुपये**

विषय-सूची

बच्चों की शिक्षा ही नहीं, दीक्षा भी आवश्यक

बच्चों को सुसंस्कृत बनाने वाली रचनात्मक प्रेरणा ही उनकी दीक्षा कही जाती है। शिक्षा के साथ ही दीक्षा भी आवश्यक है।

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

सुसंस्कृत बच्चे सभ्य समाज की नींव

मनुष्य का बचपन वह दर्पण है जिसमें उसके भावी व्यक्तित्व की झलक देखने को मिल जाती है। विश्व के महापुरुषों की जीवनी से यह स्पष्ट झलकता है कि उनका बाल्यकाल किस तरह अनुशासित, सुसंस्कृत, आत्म सम्मान पूर्ण था। साहस, आत्म विश्वास, धैर्य, संवेदना की ऐसी उदात्त भावनाएँ थीं, जिन्होंने उन्हें महापुरुष के स्थान तक पहुँचा दिया। इसके विपरीत अपराधी प्रवृत्ति के मनुष्यों की जीवनी से पता चलता है कि उनका बाल्यकाल किस प्रकार कुंठाओं से ग्रस्त था, अव्यवस्थित था ? बच्चे भावी समाज की नींव होते हैं। जिस प्रकार की नींव होगी, उसी के अनुरूप महल या भवन का निर्माण किया जा सकता है। यदि नींव ही कमजोर होगी तो कैसे उस पर भव्य भवन निर्मित किया जा सकेगा।

परिवार एक प्रयोगशाला होती है और माता उसकी प्रधान 'वैज्ञानिक'। इस प्रयोगशाला में विभिन्न प्रयोगों से नए-नए आविष्कार किए जा सकते हैं। यदि इस प्रयोगशाला में सुसंस्कृत एवं आत्म-सम्मानी बच्चों का निर्माण करना हो तो उन्हीं के अनुरूप प्रयत्न एवं प्रयोग किए जाने चाहिए। अपने प्रयोगों को उत्कृष्टता की श्रेणी तक पहुँचाने के लिए यथासंभव प्रयत्न करने पड़ेंगे, जिससे देश व समाज भी लाभान्वित हो सके।

कौन माता-पिता नहीं चाहेंगे कि उनके बच्चे सभ्य समाज की एक कड़ी बनें, महान बनें उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप बनकर उनका तथा स्वयं का नाम उज्वल करें। फिर यह सब कैसे होगा ? कैसे उनके बच्चे महान बन सकेंगे ? इसके लिए माता-पिता का त्याग, परिश्रम तथा अथक प्रयास व लगन के साथ बच्चे की नींव मजबूत बनानी होगी।

परिवार एक पाठशाला है, बच्चा यहाँ जो भी सीखता है, वही उसके संस्कार बन जाते हैं। बच्चा उस कोमल डाल के समान है

जिसे जिस ओर चाहो मोड़ा जा सकता है या कुम्हार की उस कच्ची मिट्टी के समान होता है, जिससे कुम्हार अपने इच्छानुरूप पात्र बना सकता है। इस कच्ची मिट्टी में जिस प्रकार के संस्कार भरे जाएँगे उसी के अनुरूप पात्र निर्मित हो जाएँगे। अब यह माँ या परिवार के अन्य सदस्यों पर निर्भर करता है कि किस प्रकार के संस्कार वे डालना चाहेंगे।

परिवार में माँ ही एक मात्र ऐसी सदस्या होती हैं, जिसके संपर्क में बच्चा सबसे अधिक रहता है। पालने से लेकर ठीक से होश संभालने तक वह माता के ही पास रहता है। यदि शिशुपन से ही उसकी ठीक से देख-भाल की जा सके तो कोई कारण नहीं कि माँ उसे शिवा, विनोवा, भगत सिंह आदि जैसे महामानवों की प्रतिमूर्ति न बना सके।

प्रारंभ में जब बच्चा शिशु होता है, उसी समय से माता को चाहिए कि वह उसमें उचित संस्कार ठीक ढंग से लालन-पालन करके डाले। इस काल में माँ को चाहिए कि वह स्वयं नियंत्रित रहकर शिशु का पालन-पोषण करे। स्वच्छता का ध्यान रखना, एकांत में शांत भाव से दुग्धपान कराना उनमें प्रमुख हैं। माँ का दुग्ध विभिन्न नाड़ियों से गुजरकर आता है तथा उसमें भावना भी संयुक्त होती है, इसलिए यदि माँ के मन में खिंचाव-तनाव तथा हीन भावनाएँ होंगी तो उन भावनाओं का प्रभाव दुग्ध द्वारा शिशु पर भी पड़ने की पूरी-पूरी संभावना होती है। इसी प्रकार वातावरण में भी इस प्रकार की व्यवस्था हो कि शिशु को हर दशा में आराम का अनुभव होता रहे।

जब शिशु बड़ा होता है और धीरे-धीरे बातों को समझने लायक हो जाता है, यहीं से उसका वास्तविक शिक्षण प्रारंभ होता है। इस अवस्था में परिवार ही उसकी प्रवेशिका होती है, जिससे वह सब कुछ सीखता है। इसलिए परिवार का वातावरण उचित होना चाहिए। परिवार की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि बच्चा हर प्रकार की अच्छी आदतों का अनुकरण कर सके, जो उसके निर्माण में सहायक हों, इस अवस्था में माँ को बहुत बड़ी भूमिका निभानी पड़ती है।

प्रगति का घोंसला छोटी-छोटी आदतों के तिनकों से बुनकर तैयार होता है। देखने में ऐसी आदतें छोटी भले ही हों परंतु इनका

प्रभाव बच्चों के कोमल मन पर बहुत अधिक पड़ता है। इन छोटी-छोटी आदतों में सर्वप्रथम है—नियमित दिनचर्या। प्रतिदिन समय पर उठना, शौच, स्नान, मंजन, सफाई आदि को नियमित आदत बच्चों में तथा पूरे परिवार में डालनी चाहिए, इसके साथ ही समय विभाजन से कई तरह के अन्य कार्य करने का यहाँ तक कि मनोरंजन-विश्राम का भी पर्याप्त समय मिल जाता है। बच्चों को समझाया जाए कि नियमित दिनचर्या के क्या लाभ हैं और अनियमितता से क्या हानियाँ होती हैं, इन बातों को बच्चों के मन पर अच्छी प्रकार बैठा देना चाहिए कि ये छोटी-छोटी आदतें उनके जीवन की नियमित दिनचर्या बन जाएँ।

बच्चों में ऐसी भावना भरनी चाहिए कि वह अपने से बड़ों का सम्मान करें, उनसे शिष्टाचार के साथ बातें कर सकें। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि परिवार में भी इसी के अनुकूल वातावरण बनाया जाए, क्योंकि बच्चा बंदर की तरह नकलची होता है, जैसा स्वयं हम व्यवहार करते हैं—उसी का अनुकरण बच्चा भी करता है। इसलिए उसकी भावनाओं को उभारने के लिए उसी प्रकार के वातावरण का निर्माण करना चाहिए, जिसकी हम बच्चे से अपेक्षा करते हैं। हमारी भारतीय परंपरा अपने से बड़ों का चरण स्पर्श द्वारा अभिवादन करने ही रही है, यह भावना बच्चों में भी भरनी चाहिए।

इसके लिए यह आवश्यक है कि बड़े लोग भी बच्चों या अपने से छोटे-बड़ों से वैसा ही व्यवहार करें जैसी वे बच्चों से अपेक्षा करते हैं। बड़ों को भी बच्चों के साथ शिष्टाचार के साथ पेश आना चाहिए। व्यवहार में नम्रता-शीलता-सज्जनता का पुट रहना आवश्यक है। बच्चों का अपमान न किया जाए, उनके स्वाभिमान को ठेस न पहुँचाई जाए। अबोध बालक से भी 'आप' का संबोधन किया जाए, यदि 'आप' नहीं तो कम से कम 'तुम' तो कहा ही जाए। 'तू' के शब्द को असभ्य माना जाए। कन्या या पुत्र में कोई अंतर न समझा जाए, दोनों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए।

बच्चों में धार्मिक भावनाओं का समावेश किया जाना चाहिए ताकि वे धर्म के मूल्यों को समझ सकें, उनमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा व विश्वास बढ़ सके, इससे वे बड़े होकर अनीतिगामी न हो सकेंगे।

इसके लिए प्रारंभ से ही उन्हें सामूहिक प्रार्थना का अभ्यास-गायत्री मंत्रोच्चारण या कोई भावनापूर्ण प्रार्थना करने की आदत प्रातः एवं सायं डालनी चाहिए। साथ ही साथ उन्हें प्रार्थना के तथा गायत्री मंत्र के लाभों के बारे में भी बताया जाए।

मिल-जुलकर खेलने तथा रहने की बच्चों में तीव्र भावना होती है, यह भावना बनी रहे—इसके लिए उचित वातावरण का होना आवश्यक है। मिल-बाँटकर खाने, एक ही खिलौने से मिल-जुलकर खेलने की आदतों को बढ़ावा देना, परस्पर मिलकर काम करने की परंपरा डालने से उनमें विश्व मैत्री की भावना का विकास हो सकता है। कभी-कभी माता-पिता, बच्चों की छोटी-छोटी बातों से तंग आकर अकारण ही उन्हें झिड़क देते हैं। इससे बच्चों के मन में हीन भावना घर कर जाती है, जो उनके विकास में बड़ी बाधा पहुँचाती है। अतः बच्चे बेकार के कामों में न उलझे रहें, इसके लिए उनमें रचनात्मक कार्यों के प्रति आकर्षण पैदा किया जा सकता है, जिससे वे क्रियाशील रहें। उन्हें ऐसी प्रेरणा दी जाए ताकि वे अपना काम स्वयं कर सकें, समय का उपयोग समझ सकें।

घर में हर किसी को मितव्ययिता तथा सादगी का पाठ पढ़ाया जाए। चटोरापन, फिजूलखर्ची, उद्धत श्रृंगार, गाली-गलौज जैसी बुरी आदतें बच्चों में न पनपने पाएँ—इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। लाड़-चाव से किसी में भी फिजूलखर्ची की आदत नहीं डालनी चाहिए।

सादगी अपने आप में एक बहुत बड़ा गुण है। बच्चों को इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। बच्चों के पहनावे का ध्यान रखना चाहिए, बच्चों को स्वच्छ तथा स्वस्थ तो रखा ही जाए, उन्हें आकर्षक भी बनाया जाए, परंतु किसी भी दशा में 'फैशनेबिल' न बनाया जाए, उन्हें सादगी व सज्जनता का गौरव सीखने दिया जाए, इससे वे सादगी में हीनता का अनुभव न करेंगे, अपनी प्रामाणिकता पर स्वयं संतुष्ट होंगे तथा दूसरों की दृष्टि में वजनदार सिद्ध होंगे।

सादगी के साथ ही उन्हें अपने स्वास्थ्य के प्रति भी सजग रहने की शिक्षा दी जाए। छोटे-मोटे खेल व विनोद घर में ही किए जा सकते हैं, जिसमें संगीत का अभ्यास भी सम्मिलित है, इससे पूरे

परिवार में सरसता की लहर दौड़ पड़ेगी तथा बच्चे की प्रतिभा का विकास होगा। बच्चों के स्वस्थ मनोरंजन की भी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे आजकल चल रहे बेढंगे मनोरंजनों के प्रति उनका आकर्षण न हो। बच्चों को साथ लेकर स्वास्थ्यवर्द्धक स्थानों में, पार्क-दर्शनीय स्थानों में जाना चाहिए तथा कभी अवकाश के दिन या त्यौहार के दिन पिकनिक पर निकल पड़ना चाहिए, इससे बच्चे में प्राकृतिक दृश्यों के प्रति प्रेम भावना का विकास होगा।

प्रायः बच्चों में बड़प्पन की भावना देखने को मिलती है। बड़े बच्चे अपने से छोटों पर अपना बड़प्पन लादना चाहते हैं। समय-समय पर बच्चों के खेलों में यह भावना देखने को मिलती है। कभी-कभी जब खेल-खेल में छोटे बच्चे जीत जाते हैं तो बड़ों के मन में उनके प्रति स्पर्धा जाग जाती है। प्रति स्पर्धा की वह भावना बड़ी खराब है, इसलिए बच्चों को इसके प्रति सजग रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए कि खेलों में छोटों को उत्साहित किया करें, जिससे उनमें हीन भावना उत्पन्न नहीं होने पाए। बच्चों को राम व भरत के उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है कि बचपन में राम खेल में जीतने पर भी अपने छोटे भाइयों को जिता देते थे और स्वयं हार जाते थे। चित्रकूट में भरत ने स्वयं ही कहा है—

मो पर कृपा सनेहु बिसेषी।
खेलत खुनिस कबहु ना देखी।।
मैं प्रभु कृपा रीति जिम जोही।
हारेहु खेल जितावहु मोही।।

यदि यही भावना बच्चों में भरी जाए तो उनमें बड़प्पन के अहंकार का भूत नहीं बढ़ पाएगा, वे घर में ही नहीं बाहर भी अपने से छोटों के प्रति वही स्नेह रखने में सफल होंगे।

प्रायः बच्चों में संकोचशीलता, मिश्रित भय, झिझक, संकोच आदि की भावना घर कर सकती है। कुछ बच्चे घर में तो बड़े मुखर होते हैं, परंतु बाहर जाने पर कुछ नहीं बोल सकते, शर्म मिश्रित भय से ग्रसित हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसे बच्चे इन कुंठाओं से ग्रस्त होकर अपने को बड़ा दिखाने के लिए क्रूरता का सहारा भी ले बैठते हैं। अतः माता-पिता

तथा परिवार के सदस्य इस पर ध्यान दें, ऐसी स्थिति से उन्हें व्यवहार कुशल तथा मिलनसार बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम, बच्चों की सामूहिक गोष्ठी, छोटे-छोटे नाटक, खेल आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए, इससे बच्चों में धीरे-धीरे आत्म-विश्वास की भावना भरने लगेगी तथा मिलनसारिता आएगी।

माता-पिता को चाहिए कि बच्चों में स्वयं निर्णय लेने की क्षमता का विकास करें, इसके लिए माता-पिता को भी किसी समस्या के प्रति ठोस निर्णय लेने चाहिए। प्रायः माता-पिता, बच्चे के गलत निर्णय लेने पर उन्हें डाँट-फटकार लगाते हैं या प्रताड़ित करते हैं—यह गलत है। गलत निर्णय लेने पर भी बच्चों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए तथा उनको प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे सही निर्णय लेने की क्षमता का विकास करें, इससे बच्चे का आत्म विश्वास जागेगा एवं उसे सही निर्णय लेने में सहायता मिलेगी।

अतः यदि परिवार तथा माता-पिता प्रारंभ से ही बच्चे के क्रियाकलापों की ओर ध्यान दें, बच्चों की चहुँमुखी प्रतिभा को विकसित करने में अपना पूरा योगदान दें तो कोई कारण नहीं कि बच्चे सुसंस्कृत, सभ्य आत्म स्वाभिमानी, निडर, आत्म-निर्भर न बनें और नए समाज के आधार स्तंभ न सिद्ध हों—भावी समाज का महल इन्हीं बच्चों द्वारा बनना है। ये बच्चे ही कल के राष्ट्र की तकदीर होंगे या यों कहा जाए कि सुसंस्कृत, सभ्य तथा स्वाभिमानी बच्चे ही सभ्य तथा उन्नत समाज की नींव है।

जिम्मेदारी अभिभावकों पर

बच्चों में आलस्य, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचार आदि की जिम्मेदारी अधिकांश माता-पिता या तो बच्चे के साथियों पर डाल देते हैं या फिर पड़ोसियों और वातावरण पर। किंतु तथ्य यह है कि इनमें से अधिकांश बुराइयों के लिए माता-पिता और अभिभावक ही उत्तरदायी होते हैं।

बच्चों में अनुशासन और आज्ञा पालन की प्रवृत्ति के विकास को उत्सुक माता-पिता जब अनुशासन संबंधी आदेश-निर्देश रौब दिखाकर या दबाव डालते हुए देते हैं, उस समय उन्हें स्मरण करना

चाहिए कि यह व्यवहार बच्चे में विरोध-विद्रोह की भावना जगाएगा या द्वेष-बुद्धि उभारेगा। यदि प्रारंभिक उपेक्षा के क्रम में बच्चे ने अनसुनी कर दी, तब तो उत्तेजित माता-पिता मारपीट या चीख-चिल्लाहट पर ही उतर आते हैं। इसकी प्रतिक्रिया बच्चे में बहुत तीव्र होती है और उनमें अनुशानहीनता के बीज अंकुरित हो उठते हैं।

बच्चे की सुकुमारता और संवेदनशीलता को मात्र तीव्रता से प्यार करते समय ही नहीं, अपितु संपूर्ण व्यवहार के समय याद रखना चाहिए। कोई भी आदेश देते समय यह जरूर देखा जाना चाहिए कि उस समय बच्चा कर क्या रहा है और उसकी मनःस्थिति क्या है ? उदाहरणार्थ बच्चा किसी रुचिकर खेल में लगा है या एकाग्रता के साथ पढ़ रहा है या किसी हानिरहित चेष्टा में मस्त है, किसी अभिप्राय या अनुकरण की गतिविधि में विभोर है, तो उस समय उसे कोई आज्ञा नहीं देनी चाहिए। छोटे बच्चों को खेल आदि से विरत कराने के लिए उसे कभी सीधी निषेधात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिए। उनके साथ खेल में कुछ देर स्वयं भी लगकर फिर प्रस्ताव या सुझाव रूप में अपनी बात रखनी चाहिए।

बच्चे को आदेश देने का सर्वोत्तम समय वह होता है, जब वह माँ के पास शांत, स्वस्थ मनःस्थिति में होता है। आदेश मुख्यतः विधेयात्मक होने चाहिए, निषेधात्मक नहीं। 'इसे मत करो', वहाँ मत जाना' जैसे आदेशों के स्थान पर उन्हें आकर्षक और प्रशंसापूर्ण भाव से आदेश देना चाहिए—'हमारा मुन्ना या मुन्नी अमुक काम करेगा या करेगी, अमुक वस्तु लाएगा या लाएगी आदि। आज्ञा देने से पूर्व बच्चे से यह न पूछे कि क्या तुम यह कार्य करोगे या करोगी ? क्योंकि ऐसे पूछने पर ना की ही अधिक संभावना रहती है और ना कर देने पर फिर उससे जोर-जबरदस्ती से काम लेने पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ेगा। आकर्षक, रचनात्मक शैली में दिए गए, आदेश, बच्चे की कौतूहल और मनोरंजन की भावना को प्रेरित तथा तृप्त करते हैं।

बच्चे को आवश्यक रूप में बार-बार टोकना ठीक नहीं, क्योंकि एक तो बच्चे स्वभावतः चंचल होते हैं, किसी काम पर अधिक नहीं टिकते, फिर टोकाटोकी से तो उनकी उस थोड़ी-बहुत एकाग्रता, तन्मयता में भी विक्षेप पड़ता है। फिर बच्चे के मन पर यदि टोकने

से उखड़ जाने वाले संस्कार अंकित हो गए तो उनकी एकाग्रता की शक्ति पर इसका प्रभाव पड़ता है और आगे चलकर वे किसी भी काम पर तन्मय-एकाग्र नहीं हो पाते अपने सामने उपस्थिति काम पर न जम पाने की प्रवृत्ति असफलताओं की ओर ही ले जाती है।

बच्चों की सहज अनुकरण-बुद्धि को सदा ध्यान में रखना चाहिए। माता-पिता को बच्चों के सामने परस्पर प्रेम-प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। अबोध बच्चों के अंतर्मन पर भी इसका सूक्ष्म प्रभाव पड़ जाता है। बोध रखने वाले बच्चों की तो कौतूहल भावना तीव्र हो उठती है और वे फिर परस्पर वैसा ही करने का प्रयास करते हैं। बच्चों में असमय विकसित यौन-भावना तथा यौन अपराधों के विस्तार के लिए माँ-बाप की यही भूल मुख्यतः जिम्मेदार होती है। बच्चों को नंगे ही घूमने-फिरने देना भी अच्छा नहीं। इससे भी उनकी यौन-भावना समय से पूर्व ही जग जाती है। असमय में उत्पन्न यौन भावना को बच्चे गलत तरीके से व्यक्त करते हैं। अभिभावकों को इस बात का भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि उनकी कोई भी काम संबंधी दुर्बलता या चारित्रिक कमजोरी बच्चों के सामने न प्रकट हो जाए।

बच्चों के समझदार होने पर उन्हें हमेशा अलग-अलग बिस्तरों पर सुलाना चाहिए।

बच्चों को महत्त्वहीन समझकर उनसे व्यवहार करने से वे स्वयं को अनुपयोगी उपेक्षणीय मान बैठते हैं। इससे आगे चलकर उनमें आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। अतः किसी कार्य को न कर पाने अथवा काम बिगड़ जाने पर उनकी खिल्ली नहीं उड़ानी चाहिए। ऐसा करने पर वे चिड़चिड़े और उद्दंड होने लगते हैं।

किसी मामले पर बच्चे द्वारा राय देने पर उसे झिड़कें नहीं, भले ही उस राय का कोई अर्थ और महत्त्व न हो। झिड़कने से उनकी हिम्मत टूटने लगती है और वे सही बात कहने में भी हिचकने लगते हैं। "अजी तुम चुप रहो, अभी बच्चे हो।" बात-बात पर दोहराने से भी बच्चे में कुंठा उत्पन्न हो जाती है।

यह सदैव ध्यान रखा जाए कि बच्चा आखिर मनुष्य ही है और उसकी कुछ अपनी अक्ल भी है। गिरने के डर से किसी बच्चे को

चलने से नहीं रोका जा सकता। इसी प्रकार बौद्धिक गलतियाँ करके बच्चा अपनी बुद्धि को विकसित ही करता है।

बच्चे को डाँटने और सजा देने की भी जरूरत पड़ सकती है, पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि बच्चा जब कसूर करे, उसी समय उसे डाँटा जाना चाहिए। गलती के एक-दो दिन बाद डाँटने-सजा देने पर बच्चे पर वैसा कसूर न करने का प्रभाव अंकित नहीं हो पाता। अपितु वह ऐसी असमय की डाँट या सजा से चिढ़-सा जाता है। साथ ही बच्चे की गलती पर ऐसी परेशानी का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, जिससे उसे यह आभास हो जाए अच्छा, इन्हें ऐसा करके परेशान किया जा सकता है, क्योंकि तब वह ऐसा करने में ही अपना महत्त्व बढ़ने का अनुभव करने लगता है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि बच्चे की जिस हरकत को शरारत समझा जा रहा है, वह उसके अनजान होने के परिणामस्वरूप हो रही हो। आखिर उन्हें हर बात में सही गलत की जानकारी तो होती नहीं। अतः अनजाने में की गई भूलों को सुधार कर ठीक बात समझाने की आवश्यकता होती है, डाँट-डपट की नहीं।

जिस घर में समानांतर सरकारें चल रही होंगी, वहाँ बच्चों में अराजकता का ही विकास होगा अर्थात् जहाँ पिता कुछ हुक्म दे, माँ उसकी बात को काटकर दूसरा अथवा माँ का आदेश काटकर बाप दूसरा आदेश दे, वहाँ उच्छृंखलता की प्रवृत्ति ही पनपेगी और बच्चों में चुगलखोरी, चापलूसी तथा फुसलाने की आदत भी बढ़ेगी, वे जान जाएँगे कि माँ को खुश करने के लिए बाप का अमुक कहना न मानने की बात बताना लाभकारी है और आज्ञाकारिता की सौदेबाजी कर माँ-बाप से मन-पसंद वस्तुएँ ऐंठी जा सकती हैं। जो माँ-बाप का अमुक काम कर डालने पर अमुक माँग पूरी कर देने की लत बच्चों को लगा देते हैं, वे निश्चय ही उनमें इन दुर्गुणों के विकास के दोषी हैं।

बच्चे में यदि आलस्य की वृत्ति बढ़ती दिखे, तो उसे उस हेतु डाँटना नहीं चाहिए, क्योंकि बच्चे स्वभाव से उत्साही, चपल और क्रियाशील होते हैं। अतः आलस्य किसी शारीरिक विकार का परिणाम हो सकता है। उसकी जाँच कराई जानी चाहिए।

यदि बालक खेल-कूद में उत्साह रखता हो, किंतु पढ़ने या कार्य करने से जी चुराता हो, तब यही मानना चाहिए कि इसका कारण शारीरिक दोष न होकर पढ़ाई या कार्य में अभिरुचि न होना है। ऐसे बच्चों की रचनात्मक क्षमता उनके अनुकूल कार्यक्षेत्र मिलते ही प्रकट हो जाती है। अतः जरूरत इस बात की होती है कि बच्चे के व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसकी स्वाभाविक अभिरुचियों का पता लगाया जाए। यहाँ वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन का प्रसंग स्मरणीय है। डार्विन बाल्यावस्था में पाठशाला में बहुत जी चुराता था। उसे कक्षा में कैद होने से चिढ़ थी। इसके स्थान पर जंगलों-पहाड़ों में घूमने निकल जाता। उसके माता-पिता परेशान थे। वे अपने लाड़ले को डाक्टर बनाना चाहते थे। जब लड़का सुधरता न दीखा तो उन्होंने उसे एक-दूसरी पाठशाला में डाल दिया। वहाँ एक मनोवैज्ञानिक प्राध्यापक थे। उन्होंने डार्विन की रुचि का पता लगा लिया और उसके पिता को भी बता दिया कि तुम्हारा लड़का डाक्टर तो नहीं बन सकता, पर बहुत बड़ा प्रकृति-विशेषज्ञ अवश्य बन सकता है। पिता ने अनुमति दे दी और डार्विन अपनी रुचि का विषय पाकर तेजी से आगे बढ़ने लगा तथा विश्व-विख्यात वैज्ञानिक बना, विकासवाद का सिद्धांत दुनियाँ के सामने प्रस्तुत किया।

वस्तुतः बच्चे की आदतों की पूरी जिम्मेदारी माँ-बाप की है। माता ही बच्चे की प्रथम गुरु हैं। पाँच वर्ष की उम्र तक ही बच्चा योग्य माँ से इतना सीख सकता है, जितना अगले चार वर्ष तक भी स्कूल में न सीख सकेगा। कहानी किस्से के रूप में बच्चे में डाले गए संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। माता जीजाबाई ने अपने पुत्र शिवाजी को बचपन में ही रामायण और महाभारत की वीर-गाथाएँ सुनाकर उनमें शौर्य, साहस, संकल्प और आदर्शवादिता के बीज बो दिए थे। यदि बच्चे को श्रेष्ठ संस्कार डाल सकने वाली कहानियाँ सुनाई जाएँ, तो उन पर कहानियों का निश्चित प्रभाव पड़ता है। बच्चों में कहानियाँ सुनने की तीव्र ललक होती है। उसे माँ बाप नहीं पूरा करें तो वह इधर-उधर पास-पड़ौस में सुनेंगे। अतः बच्चों को कहानियाँ सुनाने के लिए समय हर माँ-बाप को निकालना ही चाहिए तथा भय या निराशा उत्पन्न करने वाली, भूत-चुड़ैल की किसी

राजकुमारी की हत्या आदि की कहानियाँ उन्हें नहीं सुनानी चाहिए। भयावनी कहानियाँ बच्चे की विचारधारा और कल्पना-प्रवाह को भय की ही दिशा में मोड़ देती है और भयप्रद विचारों तथा कल्पनाओं में उलझा बच्चा अकारण ही भयभीत होने लगता है। भय का ही एक दूसरा रूप है—अतिशय झिझक। जो माँ-बाप बच्चों को बात-बात पर झिड़कते रहते हैं, वे अपने बच्चों में ऐसी झिझक की भावना पैदा कर देते हैं। उनके बच्चे दूसरों से बात करने में भी झिझकते हैं। यह झिझक गहरी आत्महीनता का कारण बनती है और इस आत्महीनता की प्रतिक्रिया में कई बार बच्चे आगे चलकर उद्दंड या अपराधी भी हो जाते हैं। अधिकांश उद्दंड किशोर भीतर से बहुत डरपोक होते हैं। अतः बच्चों में भय और झिझक की भावनाएँ पैदा ही नहीं होने देना चाहिए और यदि किसी कारण पैदा हो जाए तो मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके भय को दूर करने के उपाय तत्काल किए जाने चाहिए। वस्तुतः बच्चे के प्रति माँ-बाप को निरंतर सतर्क रहना ही होता है। बच्चे के पालन-पोषण का यह अर्थ नहीं है कि उसे रोटी खिलादी जाए, कपड़े पहना दिए जाएँ, पुस्तकें खिलौने आदि ला दिए जाएँ और पैसे दे दिए जाएँ। बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण की जिम्मेदारी भी उन्हीं की है। स्कूल खदेड़कर वहाँ किसी मशीन में बच्चे के व्यक्तित्व के सुघड़ हो जाने की आशा भी हास्यास्पद है। व्यक्तित्व निर्माण का प्राथमिक दायित्व माता-पिता का ही है, अतः उस हेतु उन्हें ही प्रयास करने होंगे।

बच्चों की कोमलता को ध्यान में रखने का यह अर्थ नहीं है कि उनकी अनुचित माँगों को स्वीकार किया जाए। ऐसा करने से बालक का ही अहित होगा। बच्चे की उचित-अनुचित सभी माँगों को स्वीकार करते जाने का अर्थ है, उसे हठी-दुराग्रही बनाना। साथ ही ऐसे बच्चे की अनुचित इच्छाएँ भी बढ़ती जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उनमें निगाह बचाकर चोरी करने जैसी बुरी आदतें पैदा हो जाती हैं। अतः बच्चे की अनुचित माँगें कदापि पूरी नहीं करनी चाहिए। इस विषय में पर्याप्त दृढ़ता बरती जानी चाहिए। विशेषकर माताओं को इस दिशा में अधिक सजग रहने की आवश्यकता है। उनका कोमल हृदय बच्चे के रोने-मचलने से विचलित हो उठता है

किंतु उन्हें बच्चे के हित की दूरगामी दृष्टि रखकर अपनी इस कोमलता को कमजोरी नहीं बनने देना चाहिए।

बच्चे के हठी, आलसी, चिड़चिड़े, उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी, अनुशासनहीन, डरपोक और विपथगामी होने की प्रमुख जवाबदारी माता-पिता पर है। दूसरों पर दोष डालकर वे इससे बच नहीं सकते। बच्चे के पालन-पोषण का अर्थ उसके व्यक्तित्व-विकास की ओर सदा ध्यान दिए रहना भी होता है। जो माता-पिता ऐसा नहीं कर पाते, वे बच्चे के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं पूरी करते।

एक अनुभवी शिक्षक का कथन है कि हम लोग अपने बालकों की शिक्षा के संबंध में भी उदासीन हो गए हैं। माता-पिता को समय नहीं मिलता कि बालकों की ओर समुचित ध्यान दें। वे चाहते हैं कि बालक को पाठशाला में भर्ती करा दें और आगे का सब काम अध्यापक ही कर लेंगे, पर आज के अध्यापक को कोई परवाह नहीं। यह एक कारण है जिससे बालक की शिक्षा दूषित होती है।

मान लीजिए कि जब आप कहीं आमोद-प्रमोद के लिए जाते हैं तो वहाँ पड़ाव डालकर अपना सारा काम स्वयं करते हैं। झाड़ू देकर जमीन साफ करते हैं, लकड़ियाँ बीनकर आग जलाते, बर्तन साफ करते, चाय बनाते, पत्तों पर भोजन करते हैं। यह सब काम बड़ी रुचि से करते हैं, जिसमें एक प्रकार का आनंद आता है। वही काम यदि घर पर करना पड़ जाए तो संभवतः आप यह कहकर इन्कार कर देंगे कि 'यह हमारा काम थोड़े ही है।' बच्चे को सभ्य व सुसंस्कृत बनाना माता-पिता की जिम्मेदारी है, उस जिम्मेदारी के पालन से ही बच्चे समाज के लिए उपयोगी बन जाते हैं।

जिस प्रकार इमारत का ख्याल रखकर हम नींव डालते हैं, उसी प्रकार बच्चे की समझ तथा पढ़ने की कठिनाई को समझकर हमें पहले उस ओर बच्चों की दिलचस्पी पैदा करना आवश्यक है। बहुतेरे माता-पिता की यह शिकायत होती है कि बच्चा स्वयं नहीं पढ़ता, उसको एक साल स्कूल जाते हो गया परंतु उसने कुछ नहीं सीखा है। घर पर भी मार-मारकर पढ़ाना पड़ता है। अब भला बताइये जिस काम के कारण शुरू में ही बच्चे का खेलना बंद हो जाए, तीन घंटे कक्षा में कैदी के समान बँधकर बैठना पड़े, न हँस

सके, न बोल सके, न कहीं इधर-उधर जा सके, पढ़ाई कुछ समझ में न आने पर मास्टर से तथा घर पर मारपीट अलग सहनी पड़े, उस काम में बच्चे की दिलचस्पी कैसे हो सकती है ? वह तो मास्टर को एक हऊआ तथा पढ़ाई को मुसीबत समझने लगते हैं। लड़का जब घर पर कुछ शरारत करता है तो माँ-बाप धमका कर कहते हैं, 'यह मेरा कहना नहीं मानता, दिन भर घर में ऊधम मचाए रहता है अगले महीने से इसे स्कूल भेजूँगी। तब इसकी तबियत ठीक होगी, सारी बदमाशी भूल जाएगा। जहाँ भी पढ़ाई के विषय में बच्चे का आरंभिक अनुभव बुरा हुआ, बड़ा होने तक दूर नहीं होता। यही कारण है कि मेधावी बच्चों में दिलचस्पी की कमी बनी रहने से वह उतना अच्छा नतीजा नहीं दिखा पाते।

इससे यह सिद्ध होता कि एक ही काम भिन्न-भिन्न तरीकों से दिलचस्प भी हो सकता है और अरुचिकर भी। बच्चों के विषय में भी यही बात है कि उनको जब आप कोई काम सिखाएँ तो उसके प्रति बच्चों की उत्सुकता तथा शौक बनाए रखें, फिर आप देखें कि बच्चे अपना खाना-पीना भूलकर किस प्रकार ध्यान से आपकी बात सुनते हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि माता ही बच्चे की सर्व प्रथम गुरु है। पाँच वर्ष की उम्र में बच्चा योग्य माँ से इतना कुछ सीख सकता है, जितना चार साल आगे स्कूल में नहीं सीख सकेगा। कहानी किस्से के रूप में ही बच्चा, इतिहास, भूगोल, धर्म-विज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, सफाई, कविता, कहानियाँ चुटकुले आदि की शिक्षा प्राप्त कर लेता है। बच्चे कहानी सुनने के बड़े शौकीन होते हैं। कहानियों के द्वारा ही बच्चों का चरित्र निर्माण हो सकता है। यह सब तो माँ की योग्यता और चरित्र पर निर्भर करता है कि बच्चे को किस प्रकार की कहानी सुनावें। परियों की कहानी जानने वाली माताएँ बच्चों को यह सब सुनाती रहती हैं परंतु माता जीजाबाई बच्चे शिवाजी को रामायण और महाभारत की वीर कहानियाँ सुनाती रहती थीं। तभी तो आगे चलकर उनका बच्चा आज्ञाकारी और साहसी बना। घर में जब बच्चों की स्मरण शक्ति का इन कहानियों के द्वारा विकास हो जाएगा वह बड़ा होकर उन्हीं बातों की चर्चा इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि

की पुस्तकों में पढ़ेगा, तब उस विषय के अपने बाल्यकाल के ज्ञान को वह उसी कड़ी में जोड़ देगा। इस प्रकार शिक्षण की जो पहली कड़ी तैयार हुई होगी, आगे का ज्ञान उसी के साथ शृंखलाबद्ध हो जाएगा। पहली मजबूत नींव पर ही आगे की इमारत खड़ी कर दी जाएगी।

संस्कारों को समुचित दिशा भी तो मिले

यह ठीक है कि जन्म लेने वाला प्रत्येक बालक अपनी तरह के संस्कार लेकर आता है और अपनी अधिकांश जीवनयात्रा उन्हीं के सहारे प्रारंभ करता है। पर इन संस्कारों को भाग्य निर्माण की कुंजी बताना बच्चों के साथ, भावी पीढ़ी के साथ विश्वासघात करने के बराबर है। संस्कारों को 'कच्चा पदार्थ' तो मान सकते हैं, पर उन्हें नई दिशा देकर उपयोगी और परिपक्व बनाने का उत्तरदायित्व उस बालक का नहीं, माता-पिता परिवार और समाज का होता है। बच्चे तभी भटकते हैं, जब उन्हें समुचित दिशा नहीं मिलती।

स्नेह, प्यार, दुलार बच्चे के विकास के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके सहारे ही उसमें नैतिक आचरण और सद्गुणों का विकास होता है, पर वह अभिभावक जो लाड़ और प्यार के मध्य बच्चे के अध्ययन और सुधार की बुद्धि नहीं रखते और कोई हो या न हो पर वह तो उसके शत्रु के समान ही है। अनियंत्रित लाड़ का एक ही अर्थ है बच्चे को कंटकाकीर्ण बियावान जंगल में अनाश्रित छोड़ देना। उस स्थिति में तो उसका भटकना ही निश्चित है।

बालक का हृदय कोरी सिलेट और स्वच्छ वस्त्र के समान होता है। कोरी सिलेट में जो चाहे लिखा और धवल वस्त्र में कैसा भी रंग चढ़ाया जा सकता है। संस्कारों के अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक गुण होते हैं, जिससे बालक की पहिचान होती है। वे हैं—(१) अनवरत सक्रियता या चंचलता (२) तीव्र जिज्ञासा अर्थात् हर नई वस्तु के अंतरंग ज्ञान और मेल-मिलाप की आकांक्षा (३) सरलता और निश्चिंतता। इन जन्मजात गुणों को, संस्कारों को शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व कह सकते हैं, इन्हीं के सहारे जो भी दिशा मिलती है, बालक के संस्कार तेजी से गतिशील हो जाते हैं और उसे अच्छी या बुरी किसी दिशा में ले जाते हैं।

कच्चे लोहे को पिघलाकर इस्पात ढालने की अपनी विधा होती है। पेट्रोलियम से कीमती मोबीआयल निकालते हैं। बच्चे के संस्कार वे चाहे कितने ही जन्मों से जड़ पकड़े हुए हों, उन्हें सुधारा और सँवारा जाना बिल्कुल आसान बात है, यदि हम बच्चे को वैसी दिशा और वातावरण दे सकें।

बच्चे में गीत गाने के संस्कार हैं तो उसे प्रेरणाप्रद गीत सिखाने की कहानियाँ, नाटक और प्रेरणाप्रद द्रष्टांत सिखाने की जिम्मेदारी आपकी—बच्चे के माता-पिता और संबंधियों की होती है। चाहने भर से काम नहीं चलता—इच्छा और प्रयत्नों का चोलीदामन का साथ है। यदि माता-पिता न सिखाएँ और बच्चा सिनेमा के गीत गाने लगे तो उसका क्या दोष ?

उसके तोड़-फोड़ के स्वभाव को कोई रोकना भी चाहे तो रोका जाना संभव नहीं, उससे हानि तो होती ही है, खीझ और लड़ाई-झगड़े भी होते रहते हैं। यदि प्रारंभ में बच्चे को कागज की नाव बनाना, कागज की टोपी और गुब्बारा बनाना, खिलौने बनाना, फूल-पौधे लगाने जैसे बिना खर्च के काम सिखा दिए जाएँ तो निरर्थक दिखाई देने वाली ये आदतें उसमें विलक्षण सृजनात्मक प्रतिभा जागृत कर सकती हैं। बच्चों में झगड़े की प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि उसकी उभरती शक्ति को समुचित दिशा नहीं दी जा रही—उसकी उमंगों को दबाया गया है। उसकी सक्रियता, जिज्ञासा और सरलता को भटकने के लिए छोड़ दिया गया है। इसीलिए वह अपना भी सर तोड़ता है औरों का भी किंतु यदि उस शक्ति को साहित्य, कला, रचना, गणित, विज्ञान आदि किसी दिशा में लगा दिया जाए तो ऐसा बालक कभी भी पराश्रित नहीं मिलेगा, वह कभी जीवन में हताश, निराश या उद्विग्न नहीं होगा।

अधिकांश माता-पिता को समय न मिलने की शिकायत रहती है। यदि ऐसा है तो फिर यह जिम्मेदारी ही क्यों ली जाए ? यह जानने योग्य बात हैं बल्कि यों कहना चाहिए कि विवाह से पूर्व उम्मीदवारों को इस बात का पूरी तरह बोध करा दिया जाना चाहिए कि एक बालक दस हाथियों से कम की देखभाल नहीं चाहता। खुराक भले ही कम हो, पर देख-रेख के लिए समय श्रम सावधानियाँ

इतनी अधिक अपेक्षित हैं जितनी किसी फैक्ट्री का खड़ा करना। तभी फैक्ट्री उपयोगी हो सकती है, तभी बालक सुसंस्कृत हो सकते हैं।

मार्कट्वेन ने इस संबंध में गंभीरता से अध्ययन किया और चिंतन के निष्कर्ष दिए हैं, वह इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने अपराधी बालकों के एक गिरोह के चार बच्चों के पारिवारिक जीवन का अध्ययन किया। यह सभी बालक संपन्न घरों के थे। एक दिन उन्होंने किसी की नील गाय पकड़ ली। उसे मारा और उसकी खाल एक दुकानदार को बेच दी। दुकानदार ने खाल भीतर रख दी और बाहर आकर फिर काम करने में लग गया। लड़कों ने इतने ही क्षणों में पिछवाड़े की खिड़की तोड़ ली। वे पीछे गए और एक के ऊपर एक चढ़कर भीतर घुस गए और फिर वही खाल निकालकर उसी दुकानदार को बेच दी। दुकानदार सस्ती खालें मिलने से प्रसन्न था और बच्चों की आमद बढ़ रही थी। एक ही खाल इन लड़कों ने चार बार बेची। इस बार दुकानदार अंदर गया तो हिसाब लगाने के लिए जब खाल गिनने को उद्यत हुआ तो एक ही खाल देखकर सन्न रह गया।

मार्कट्वेन ने इन बच्चों की घरेलू परिस्थितियाँ उनके स्कूली जीवन की आज से तुलना की तो पाया कि यह बच्चे स्कूल में तीक्ष्ण बुद्धि माने गए हैं, पर घर में उनके माता-पिता में से किसी ने उन्हें शायद ही किसी दिन १०-१५ मिनट देकर उनकी परिस्थितियाँ पूछी हों। संरक्षण और मार्ग-दर्शन के इस अभाव ने इन बच्चों के साहस और बुद्धिमत्ता को यहाँ तक ला दिया, जबकि उनकी परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि वे इंजीनियर और डाक्टर बन सकते थे। इन वारिसों ने मार्कट्वेन के परामर्श को स्वीकार कर अपने किशोरों को प्रतिदिन नियमित समय देना प्रारंभ किया और एक दिन वह बालक हवाई सर्विस का कुशल डिजाइन इंजीनियर बना।

कई लोग कठिन नियंत्रण और बच्चों को भयभीत रखकर उनके सुधार की अपेक्षाएँ किया करते हैं, वे दोहरी भूल करते हैं दोपहर की रेत से अधिक से अधिक पैर जल सकते हैं, पर ज्वालामुखी तो सर्वस्व नाश करता है ऐसे बालक तो और भी भयंकर

अपराधी और दुष्ट प्रकृति के हो जाते हैं अतः दबाव डालने की नीति तो बिल्कुल अव्यावहारिक है।

कुशल माता-पिता बच्चे के संवेदनशील हृदय और मस्तिष्क के साथ अपनी बौद्धिक उर्वरता जोड़ दें, उसके जन्मजात संस्कार यदि वह खराब भी हैं तो चोर की वीरता को सिपाही के शौर्य में बदल देने की तरह सुधारा और सजाया जा सकता है। यह रचनात्मक दृष्टिकोण हर माता-पिता में विकसित हो तभी भावी पीढ़ी की सुसंस्कृत रचना साकार हो सकती है।

बच्चों को सुसंस्कृत बनाने वाली रचनात्मक प्रेरणा ही उनकी दीक्षा कही जाती है। शिक्षा के साथ ही दीक्षा की भी आवश्यकता है बिना दीक्षा के शिक्षा भटकाव का कारण बन सकती है और बिना शिक्षा के दीक्षा हो ही नहीं सकती। इसलिए बच्चों को शिक्षा एवं दीक्षा दोनों ही दी जानी चाहिए। दोनों ही आवश्यक है।

❑ ❑

बच्चों की शिक्षा और दीक्षा दोनों आवश्यक

संसार में निर्बल और प्रभावहीन रहकर जीने में कोई मजा नहीं है। जो निर्बल और प्रभावहीन होता है, उसे कोई पूछता नहीं, सभी उसे अपना शिकार बनाने की कोशिश किया करते हैं। जीवन में निर्बल होने का अर्थ है संसार के कुटिल तथा स्वार्थी लोगों का भोजन बन जाना।

निर्बलता और प्रभावहीनता का कारण है—अज्ञान और अज्ञान का कारण है अशिक्षा और संसार की गतिविधि से दूर रहना। जो अशिक्षित हैं, वह किसी से ठीक तरह बात कर सकने में असमर्थ रहता है और दूसरों की बात भी ठीक प्रकार से नहीं समझ सकता। अध्ययन द्वारा महापुरुषों के विचारों तथा अनुभवों का लाभ नहीं उठा सकता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक है।

केवल शिक्षा ही ज्ञान की संवाहिका नहीं हो सकती। किसी ने एम० ए०, बी० ए० तक शिक्षा भी प्राप्त कर ली, किंतु वह समाज से दूर-दूर संसार की गतिविधियों से विरत आत्मलीन जैसा रहता है, न लोगों के संपर्क में आता है और न विचारों का आदान-प्रदान ही करता है, तो उसकी शिक्षा उसके क्या काम आ सकती है ? इस प्रकार एकाकी रहकर वह अपनी विद्या का लाभ न स्वयं उठा पाता है और न किसी दूसरे को दे पाता है। संसार में कहाँ क्या हो रहा है ? लोगों की विचारधारा किस ओर बह रही है ? वर्तमान परिस्थितियों में हमें क्या और कैसे करना चाहिए ? इसका ज्ञान प्राप्त किए बिना अपनी दिशा, कार्य-पद्धति और साधनों का निर्णय नहीं किया जा सकता, जिसे अपने आस-पास की गतिविधि तथा परिस्थिति की जानकारी नहीं वह शिक्षित होने पर भी अज्ञानी ही माना जाएगा। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा पाना और संसार का अध्ययन करते रहना बहुत आवश्यक है।

शिक्षा का समारंभ बचपन से होता है। पाँच-छह वर्ष की आयु में जबकि प्रायः शिक्षा प्रारंभ की जाती है, बच्चों के पास अपनी स्वयं की समझ नहीं होती। वे अपना अच्छा-बुरा भी नहीं समझ पाते। साथ ही उनमें पढ़ने की स्वतः प्रेरणा नहीं होती। उस समय तो उन्हें खेलना और शरारत करना ही पसंद होता है। पढ़ने के लिए जिस दिन वे बिठाले जाते हैं, उस दिन तक उनका एकमात्र काम खेलना ही होता है। पढ़ाई उनके लिए सर्वथा नवीन तथा स्वभाव अथवा अभ्यास के विरुद्ध होती है। तभी वे उस विषय में अभिभावकों तथा अध्यापकों को काफी दिनों तक परेशान करते रहते हैं किंतु जब धीरे-धीरे अन्य बच्चों के साथ अभ्यस्त हो जाते हैं फिर अपने आप पाठशाला जाने लगते हैं। उनका अभ्यास इस दिशा में ढल जाता है। किंतु इसके लिए अभिभावकों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। उन्हें उस संबंध में बड़ा सावधान तथा सतर्क रहना होता है। बच्चे की गाड़ी जब चल निकलती है तो फिर वे असावधान अथवा उदासीन हो जाते हैं।

पढ़ाई के संबंध में बच्चों की गाड़ी चल निकलने के बाद अभिभावकों का तटस्थ हो जाना अथवा, यह सोचकर असावधान हो

जाना कि अब तो वह स्कूल जाने ही लगा है, अपने को परेशान होने की क्या जरूरत, अब बच्चा और अध्यापक आप निपटते रहेंगे, ठीक नहीं। अभिभावकों की इस उदासीनता से बच्चों की शैक्षणिक प्रगति मंद हो जाती है। अभिभावकों को जब तक बच्चे पूरी तरह आत्म-प्रबुद्ध न हो जाएँ उनकी प्रगति में पूरी-पूरी तरह दिलचस्पी लेते और प्रेरणा देते रहना चाहिए। इससे वे उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं।

अभिभावकों को चाहिए कि वे नित्यप्रति सायंकाल घंटा आध घंटा बच्चों की पढ़ाई-लिखाई देखने के लिए बैठा करें। इस समय उनके स्कूल में क्या पढ़ाई चल रही है, कितना पाठ्यक्रम हो चुका है और कितना शेष है, इसका पता लगाया करें, साथ ही उससे पढ़े पाठों के विषय में प्रश्न करके यह पता लगाया करें कि बच्चे जो पाठ पढ़ चुके होते हैं, वह याद भी करते हैं या नहीं ? उनकी कापियाँ देखा करें और पता लगाया करें कि वे अपना काम ठीक से कर रहे हैं या नहीं ? जो गलतियाँ ठीक की जाती है उन्हें बार-बार लिखकर अभ्यास कर लेते हैं या यों ही छोड़ देते हैं।

इस देखाभाली के अतिरिक्त अभिभावकों को चाहिए कि वे उस समय बच्चों से पढ़ाई के विषय में इस प्रकार बात-चीत किया करें, जिससे वे शिक्षा की गरिमा अनुभव करें और प्रेरणा पाएँ। इसी समय बच्चों को स्वयं भी कुछ न कुछ पढ़ाना चाहिए और कभी-कभी उनकी परीक्षा लेकर यह पता भी करना चाहिए कि वे किस गति से प्रगति कर रहे हैं ? इस प्रकार बच्चों की पढ़ाई में स्वयं भाग लेकर उनकी अभिरुचि बढ़ाते रहना चाहिए, 'जो अभिभावक बच्चों की पढ़ाई में स्वयं रुचि नहीं लेते, उनके बच्चे प्रायः पढ़ने-लिखने में कम ही रुचिवान हो पाते हैं।

बच्चों की शिक्षा के लिए केवल मात्र अध्यापकों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। अध्यापकों के लिए कोई एक ही विद्यार्थी तो होता नहीं, उन्हें तो पचासों विद्यार्थियों के साथ माथा-पच्ची करनी पड़ती है। पचास जगह बँटा हुआ उनका ध्यान तथा समय बच्चों को अधिक लाभ नहीं पहुँचा पाता। इसलिए अभिभावकों को बच्चों को स्वयं भी थोड़ा समय देकर उस कमी को पूरा करते रहना चाहिए।

यह तो रही पुस्तकीय शिक्षा की बात। इसके अतिरिक्त एक शिक्षा और है, जिसे अनुभवीय अथवा यथार्थ शिक्षा कहा जा सकता है। वह यह कि बच्चों को संसार का यथार्थ अथवा व्यावहारिक ज्ञान कराया जाए। इसके दो तरीके हैं—एक यह है कि बच्चों को अपने साथ बाजार, सभा सोसायटियों तथा मेलों, उत्सवों में ले जाना चाहिए। ऐसे अवसरों पर अभिभावक बाजार की चीजों, उनके भावों तथा उपयोग के विषय में बतलावें और दिखलावें कि लोग एक-दूसरे से किस प्रकार बर्तते और व्यवहार करते हैं, यह भी उन्हें बतलाना तथा समझना चाहिए। व्यावहारिक ज्ञान के लिए बच्चे बड़े ही उत्सुक तथा जिज्ञासु होते हैं। अभिभावकों को अपने प्रयत्न से उनको उनके इस गुण का लाभ पहुँचाना ही होगा।

साथ ही अभिभावकों को चाहिए कि वे नित्य प्रति प्रातः-सायं बच्चों की बस्ती से दूर कुछ देर के लिए घुमाने ले जाएँ। ऐसे अवसर पर उन्हें प्राकृतिक दृश्यों, पक्षियों, सामान्य वनस्पतियों तथा यदि कोई मिल सके तो पशुओं के बावत बतलाएँ। साथ ही सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों तथा एकांत शून्य आदि के आधार पर आध्यात्मिक जिज्ञासा भी जगाते रहना चाहिए। इस प्रकार बच्चों में पुस्तकीय ज्ञान के साथ व्यावहारिक जगत और अध्यात्म ज्ञान का क्रम बढ़ता चलेगा। एक बुद्धिमान अभिभावक ने अपनी इस व्यावहारिक विधि का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"मैं अपने दोनों किशोर बच्चों को अपरिचित सड़कों पर भेजता हूँ और निर्देश दे देता हूँ कि एक घंटे घूमकर आओ और मुझे बतलाओ कि तुमने कहाँ क्या देखा ? जब वे लौटकर आते हैं तब मैं उनसे उनकी जानकारी के विषय में प्रश्न करता हूँ। उत्तर संतोषजनक न होने पर दूसरे दिन उन्हें फिर निर्देश के साथ भेजता हूँ कि रास्ते की हर चीज और घटना को खूब ध्यान से देखते चलें और उनका महत्त्व तथा विशेषताएँ हृदयंगम करते जाएँ। वे जाते और वैसा ही करते हैं। वापस आने पर मेरे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देते हैं। इस प्रकार मैं देख रहा हूँ कि मेरे दोनों बच्चों का सांसारिक तथा व्यावहारिक ज्ञान दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जो उन्हें आगे चलकर

जीवन यात्रा में बहुत सहायक तथा उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा मेरा पूरा विश्वास है।"

निःसंदेह यह अभिभावक एक बुद्धिमान अभिभावक हैं और बच्चों के प्रति किसी पिता का क्या कर्त्तव्य है ? इसको अच्छी तरह जानते तथा पालन करते हैं। जिन बच्चों को हर चीज तथा घटना को ध्यान से देखने का अभ्यास हो जाता है, वे आगे चलकर बड़े अनुभवशील तथा व्यवहारकुशल नागरिक बनते हैं। उनका यह गुण हर बात और हर समस्या को ठीक से समझने और उसका हल निकालने में बड़ा सहायक होता है। शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकें पढ़कर परीक्षा पास कर लेना भर ही तो नहीं है। परीक्षा पास करना अनिवार्य है और उसके लिए स्वाध्याय करते रहना भी नितांत आवश्यक है, जो प्रत्येक छात्र को करते ही रहना चाहिए तथा सच्चा ज्ञान तब तक नहीं होगा, जब तक विद्यार्थी परमात्मा के इस विशाल विश्व-विद्यालय में सूक्ष्मदर्शिता के साथ पदार्थों तथा गतिविधियों का अध्ययन नहीं करता। इसके अभाव में स्कूली शिक्षा अधूरी रह जाती है।

यदि बच्चों में जीवन के हर क्षेत्र में सावधान तथा जिज्ञासु बनकर उत्सुक आँख लेकर हर चीज को ठीक से देखते और समझते चलने की आदत का विकास कर दिया जाए तो समझो उनके लिए ज्ञान के साथ सफलता का द्वार ही खोल दिया। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, नदी-पर्वत, आकाश तथा प्रकृति के सुंदर दृश्य अपनी मुखरता एवं मौनता में महानतम शिक्षा का भंडार भरे रहते हैं। जो शिक्षा का लाभ उठाने की पात्रता प्राप्त कर लेता है, वह विद्वान होने के साथ-साथ यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण अनुभवी मनुष्य बन जाता हैं। उसका प्रभाव बढ़ जाता, उसकी मनोशक्ति का विकास हो जाता, उसकी आत्मा प्रकाशित हो उठती और वह सफलता के सोपानों पर कदम रखता हुआ दिन-दिन आगे बढ़ता जाता है।

हारवर्ड विश्व-विद्यालय के महान जीवशास्त्री प्रोफेसर श्री ऐगाजिस के पास जब कोई नया छात्र आता, तब वे उसे एक मछली देते और कहा करते थे कि आधे या एक घंटे तक इसे अच्छी तरह देखो। जब छात्र मछली देखकर वापस आता तो वे उससे उसके

विषय में पूछते और कहते कि तुमने अभी मछली को ऊपरी तथा सरसरी नजर से देखा है। इसे गहरी नजर से गहराई तक देखकर आओ। ऐसा वे अनेक बार करते थे और जब छात्र में किसी चीज को गहराई के साथ देखने और समझने की बुद्धि का विकास हो जाता था, तब उसकी शिक्षा प्रारंभ करते थे। ऐसा करने से उनके सभी छात्र न केवल परीक्षा में ही अच्छे अंकों में पास होते थे बल्कि शिक्षा के बाद एक सफल नागरिक सिद्ध होते थे।

अभिभावकों को चाहिए कि उनके बच्चे जब तक शिक्षा के क्षेत्र में अपनी बुद्धि तथा पैरों के बल खड़े होने लायक न हो जाएँ उनकी शिक्षा तथा सांसारिक दीक्षा में पूरी रुचि लेते रहें। उन्हें अनुभव देते और उनका अनुभव बढ़ाते रहें। जो अभिभावक ऐसा स्वयं न करके बच्चों को पुस्तकों, शिक्षालयों तथा अध्यापकों पर छोड़ देते हैं, वे उनको शिक्षा के बाद भी कच्चा रह जाने देने की भूल करते हैं। जब अभिभावक बने हैं अथवा बनने की तैयारी कर रहे हैं तो इस उत्तरदायित्व के प्रति सदा सजग, सावधान सक्रिय रहना ही होगा।

निश्चय ही वे अभिभावक खेद किए जाने के पात्र है, जो बच्चों के प्रति अपना यह उत्तरदायित्व निर्वाह नहीं करते बल्कि इसके विपरीत आचरण किया करते हैं। बच्चे की पढ़ाई-लिखाई में रुचि लेना तो दूर उल्टे उनका हर्ज ही किया करते हैं। जिस समय बच्चे स्कूल से और अभिभावक काम से आकर घर इकट्ठे होते हैं, उनके आदेशों के अनुपालन का सिलसिला शुरू हो जाता है और बच्चों का सारा पढ़ाई-लिखाई का समय उनका काम करते ही व्यतीत हो जाता है। अभिभावक महोदय एक कुरसी अथवा चारपाई पर बैठ गए और माँगने लगे पानी, खान-पान यथास्थान और कहीं यदि वे बैठक में दोस्तों के साथ शतरंज, ताश या चौसर जमाए बैठे हैं, तब तो बच्चे न केवल बाप के ही बल्कि मुँह बोले चाचा, ताऊ के भी अरदली बन जाते हैं। क्षण-क्षण पर उनकी आवाज पड़ती रहती है। पानी लाना, पान ले आ भाई, देखो चाय बन गई, दौड़कर बर्फ तो ले आ, अपने ताऊ को सिगरेट तो ला दो। अम्मा से कहो कि क्या चाय बिना नाश्ते की चलेगी ? जिस सामान की जरूरत हो दौड़कर बाजार से ले आओ, जरा घर तक तो चले जाओ बेटा, अपनी चाची से कह

आओ कि चाय भाई साहब के यहाँ पी ली है मेरे लिए न बनाएँ और देखो दूध न हो तो चाची को ला देना आदि अनेकों काम करते करते बेचारे बच्चे चूर हो जाते हैं। खाते-पीते तक नींद धर दबाती है और फिर कहाँ की पुस्तकें और कहाँ की पढ़ाई ? सायंकाल तो ऐसा रहता ही है, इस प्रकार के न जाने कितने काम उनके लिए सबेरे भी लगे रहते हैं। इनके अतिरिक्त माता क्या उन्हें कुछ कम घर-गृहस्थी के कामों में लगाए रहती है ? यह अभिभावकत्व नहीं है। यह अन्यान्य है।

सेवा भाव का विकास भी आवश्यक है

जिन बच्चों में आरंभ से सेवा की भावना का स्वस्थ विकास कर दिया जाता है, वे आगे चलकर अपने सेवा-भाव से समाज में प्रतिष्ठा के पात्र बन जाते हैं। सेवा-पथ से चलकर हजारों ऐसे व्यक्ति उन्नति के महान शिखरों पर पहुँचे हैं, जिनके पास साधन नाम की कोई वस्तु ही न थी। उनके परिवार निर्धन और निरक्षर थे।

तन, मन और वाणी से दूसरे की सेवा में रहना स्वयं इतना बड़ा साधन है कि उनके सम्मुख किसी अन्य साधन की आवश्यकता ही नहीं रहती। साथ ही अन्य सारे साधन इस एक साधन के अनुगामी रहते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति सेवा में सच्चे मन से लग जाएगा उसको सीमा के भीतर के सारे साधन अवश्य ही प्रस्तुत रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक की सेवा में तत्पर रहने से प्रत्येक के साधन सुलभ रहने से साधनों की प्रचुरता हो जाएगी।

किंतु जो निःस्वार्थ भाव से सेवा करने के लिए ही सेवा करता है, वह दूसरे के साघन का अपनी निजी आवश्यकता अथवा उन्नति के लिए उपयोग नहीं करता और सच बात तो यह है कि उसको किसी के साधनों की आवश्यकता ही नहीं रहती। सच्चा सेवा-भाव रखने वाले के लिए पथ के अवरोध स्वयं हटते और सफलताओं के द्वार खुलते चले जाते हैं। हर आदमी उसके सेवा-भाव से प्रसन्न हो, विनिमय रूप में कुछ न कुछ सहायता एवं सहयोग करने के लिए लालायित रहता है।

अस्तु समाज के सुंदर निर्माण और भविष्य में उन्नति के लिए बच्चे में सेवा-भाव का विकास करना अत्यंत आवश्यक है। इस सेवा भाव को विकसित करने के लिए परिवार सबसे सुंदर संस्था है। धीरे-धीरे गुरुजनों की सेवा प्रारंभ करके सारे परिवार की सेवा करने के भाव का जागरण करना चाहिए।

किंतु यह शिक्षण प्रारंभ करने से पूर्व सेवा के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए। साधारणतः सेवा के दो स्वरूप होते हैं। एक तो अपनी सुख-सुविधा और आराम के लिए सेवा लेना, दूसरी वह सेवा जो सहायता, सहयोग और सहानुभूति के रूप में की जाती है। जैसे लेटकर थकान दूर करने या नींद लाने के लिए हाथ-पैर दबवाना, शरीर की मालिश कराना अथवा नहाने धोने में उनसे सहायता लेना। यह प्रथम प्रकार की सेवा है, जिससे बच्चे में वांछित सेवाभाव का उदय न होगा। कदाचित इस प्रकार की सेवा दूसरों को प्रदान करने में उसे संकोच भी होगा और न कोई अन्य व्यक्ति इस प्रकार की सेवा लेने का अधिकारी ही होता है और न वह पसंद ही करेगा।

विपत्ति के समय सहायता करना, किसी काम में सहयोग करना और दुःख में सहानूभूति देना—जैसे असंभाव्य घटना में दौड़ जाना, ब्याह-शादी आदि उत्सवों में हाथ बँटाना, रोगादिक कष्टों में औषधि उपचार आदि का ध्यान रखना और कारुणिक अवसरों पर शांति और धैर्य देना दूसरे प्रकार की सेवा है। जिसको प्रदान करने में न तो बच्चे को संकोच होगा और न कोई दूसरा अपने को अनधिकारी समझेगा। इन दोनों प्रकार की सेवाओं में जो एक अंतर है वह यह है कि प्रथम प्रकार की सेवा में सामान्यतः दास भाव है और दूसरे प्रकार की सेवा में परोपकार भाव।

अपनी व्यक्तिगत सेवा लेने का अधिकार होते हुए भी अभिभावकों को बच्चे में परोपकार भाव ही जागृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका प्रारंभ घर की व्यवस्था ठीक करते समय चीजों को उठाने-धरने में अपना हाथ बँटवाकर, छोटे भाई-बहिनों को पढ़ाने-लिखाने और पाठशाला जाने-आने में सहयोग कराकर तथा ऐसी सेवाएँ लेकर किया जा सकता है, जिससे उसे उसका अभ्यास हो और रुचि उत्पन्न हो।

सेवा का अभ्यास कराने के साथ-साथ उसे उसकी प्रेरणा भी देनी चाहिए। उसे नित्य प्रति परोपकार की महत्ता और उससे होने वाले लाभों को बतलाना चाहिए। उसको असहायों की सहायता और आवश्यकता के समय दूसरों के काम आने के नैतिक कर्तव्य, उसके ढंग का ज्ञान कराना चाहिए।

यद्यपि बच्चों को पाठशाला और अनेक अन्य अवसरों पर परोपकार की शिक्षा दी जाती है, किंतु उसका कोई यथार्थ लाभ नहीं होता। उसका कारण है कि औपचारिक रूप से कार्यक्रमों के अनुसार उसे मौखिक उपदेश भर दे दिया जाता है। वास्तविक प्रेरणा नहीं दी जाती। वास्तविक प्रेरणा तो बच्चों को ठीक-ठाक अभिभावकों से ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि ऐसे कामों के लिए अन्यों की अपेक्षा माता-पिता के कथन का अधिक प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक प्राणी होने के कारण बच्चे से लेकर बूढ़े तक प्रत्येक मनुष्य में सेवा और सहयोग के कुछ सहज संस्कार भी होते हैं, किंतु वे जगाए न जाने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो पाते। माता-पिता की प्रेरणा से वे संस्कार शीघ्र जाग सकते हैं, क्योंकि उनके कथन में बच्चे को अधिक विश्वास रहता है। वह जानता है कि माता-पिता उसे जिस बात के लिए कहेंगे उसमें उसका हित ही निहित होगा।

बहुत-से अभिभावक बच्चों को पैसे का लोभ देकर सेवा करने के लिए प्रेरित करते हैं। जैसे—'तुम मेरे एक घंटा पैर दबाओ तो मैं तुम्हें दो आने दूँगा" या "तुम मेरा अमुक काम कर दो तो मैं तुम्हें अमुक वस्तु दूँगा।" यद्यपि इसमें स्नेह और बच्चों को सेवा करने के लिए प्रोत्साहित करने की भावना छिपी रहती है, तथापि इस प्रकार सेवाओं का सौदा करने से बच्चों के लोभी बन जाने का भय रहता है। फिर वे हर जगह और हर व्यक्ति से अपनी सेवा का मूल्य चाहने लगेंगे।

किसी बच्चे द्वारा काम किए जाने पर, सभ्यता के नाते हर व्यक्ति हर प्रयत्न करता है कि उसे इसके बदले में कुछ दिया अवश्य जाए किंतु बच्चे में इतनी निःस्वार्थता अवश्य होनी चाहिए कि वह विनम्रतापूर्वक उसे लेने से इन्कार कर दे। जो बच्चे अपनी सेवाओं

का मूल्य ले लेते हैं, वे दूसरों की सहज सद्भावना और स्नेह से वंचित हो जाते हैं।

निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। सबके हृदय में उनके लिए एक आशीर्वाद का भाव रहता है। हर व्यक्ति अपनी आत्मा से उनके कल्याण की कामना करता है। इस प्रकार बच्चे के साथ ज्यों-ज्यों उसका सेवा कार्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसी अनुपात से समाज में अधिक से अधिक उसके प्रति सद्भावना का कोष बढ़ता जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि उसकी उपयोगिता इतनी बढ़ जाती है कि अधिक से अधिक जन-समुदाय उस पर निर्भर रहने लगता है और तब वह राष्ट्र और समाज का एक स्वस्थ नेतृत्व करने योग्य व्यक्ति मान लिया जाता है।

संसार के इतिहास में एक नहीं हजारों ऐसे उदाहरण हैं कि साधारण से साधारण व्यक्ति सामान्य सेवा मार्ग से चलते हुए राष्ट्र के महान से महान नेता हुए हैं किंतु यह होता तब ही है जब किसी का सेवा-भाव निःस्वार्थता की चरम सीमा पर होता है। बड़ी से बड़ी पदवी पर पहुँचकर भी जहाँ उसके सेवाभाव में दोष आया नहीं कि वहीं से उसका पतन प्रारंभ हो जाता है। जहाँ अनंत उन्नति के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं, वहाँ इस प्रकार के पतनों के उदाहरणों की भी कमी नहीं है।

अतएव जहाँ बच्चे में सेवा भाव का विकास किया जाए, वहाँ निःस्वार्थ भावना के संस्कार भी डाले जाएँ। निःस्वार्थ सेवा करने से दिनों-दिन उसके प्रति उत्साह की वृद्धि होती है। इसके विपरीत स्वार्थपूर्ण सेवा-भाव आगे चलकर कुछ समय में अपने पर एक बोझ बन जाता है, जिसको वहन कर सकना सामर्थ्य के बाहर हो जाता है।

सेवा का कोई तात्कालिक मूल्य न लेते हुए भी यदि भविष्य की उन्नति का भी ध्यान रखा जाएगा तो यह भी एक प्रकार का स्वार्थ ही होगा, क्योंकि इस प्रकार तो यह भाव अपने सेवा-मूल्यों को समाज में संचित करते रहने और आगे के नेतृत्व आदि के रूप में इकट्ठा कर लेने के समान ही होगा, जो उसकी सहज और सच्ची उन्नति में बाधक होगा।

अस्तु, बच्चों की क्या वर्तमान और क्या भविष्य में होने वाले किसी लाभ की भावना से मुक्त रखते हुए, उसमें निःस्वार्थ सेवा का भाव सदा के लिए भी उत्पन्न किया जाना चाहिए।

बच्चों को व्यवहार कुशल बनाइए

बच्चों को व्यवहार कुशल बनाने के लिए उनमें उत्तर-दायित्व की भावना का विकास करना बहुत आवश्यक है। जिन बच्चों में उत्तरदायित्व का भाव जाग जाता है, वे हर काम बड़ी होशियारी से करते हैं। हर समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनसे कोई काम बिगड़ न जाए। उन पर कोई उंगली न उठा सके अथवा किसी समय वे उपहासास्पद न बन जाएँ।

व्यवहार कुशलता का सीधा-सा अर्थ है कोई ऐसी बात या कोई ऐसा काम न करना, जिससे किसी को कोई तकलीफ पहुँचे अथवा वे आलोचना या उपहास के पात्र बन सकें।

यद्यपि सारे क्षेत्रों में किसी का पूर्ण रूपेण कुशल हो सकना असंभव के समकक्ष जैसी बात है, तथापि समाज में साधारण व्यवहार कुशलता प्राप्त कर लेना सबके लिए सुसाध्य एवं आवश्यक है। जो सामान्य सामाजिक व्यवहार में कुशल नहीं होते, वे अंदर के अच्छे होते हुए भी समाज में उचित स्थान नहीं पा सकते। लोग उनके विषय में यह कहकर आलोचना किया करते हैं कि अमुक व्यक्ति हो सकता है। अंदर से अच्छा हो पर व्यवहार से अच्छा प्रतीत नहीं होता और समाज में इस प्रकार की धारणा लोगों को उसके प्रति शंकालु ही बनाए रखती है।

समाज में विनिमय, वार्तालाप, संबंध एवं सामंजस्य चार ऐसी बातें हैं, जिनकी पृष्ठभूमि पर ही सारे सामाजिक व्यवहार आधारित रहते हैं। इन चार बातों को ठीक से व्यवहार कर सकने की योग्यता प्राप्त कर लेना ही व्यवहार दक्षता है।

विनिमय का अर्थ है, आदान-प्रदान अथवा लेन-देन। जो पैसे का भावनाओं का अथवा विचारों का हो सकता है। विनिमय व्यवहार में जहाँ तक हो सकें स्पष्टता एवं ईमानदारी रखनी चाहिए। जैसे कोई वस्तु खरीदते समय अपनी चतुरता अथवा हीलोहुज्जत से

दुकानदार को साधारण भाव से कम कीमत देने का प्रयत्न न करना चाहिए, क्योंकि इससे दुकानदार अपना नुकसान तो करेगा नहीं उलटा अच्छा ग्राहक न समझकर ऐसे व्यक्ति के हाथ कोई चीज बेचना पसंद न करेगा और यदि एक बार, वह ग्राहक बनाने के लिए दब भी जाएगा तो दूसरी बार एक पैसे के दो पैसे वसूल कर लेगा और सबसे पहले घटिया चीज भिड़ाने की कोशिश करेगा। बार-बार ऐसा करने वाले व्यक्ति की साख ग्राहक के रूप में बाजार में कम हो जाती है और हजारों रुपयों का सामान खरीदने पर भी वह आदर नहीं पा पाता जो उसे मिलना चाहिए।

अब रही कोई चीज बेचने की बात। कोई वस्तु बेचते समय सामान्य भाव से अधिक पैसे लेने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर मूल्य बतलाना, घटिया चीज भिड़ाना या असंतोषजनक ढंग से विक्रय करने वाले की दुकानदार के रूप में साख खराब हो जाती है और वह एक बड़ा दुकानदार होने पर भी न तो अपेक्षित बड़प्पन पा सकता है और न अधिक समय तक अपनी स्थिति बनाए रख पाता है। धीरे-धीरे ग्राहक संख्या कम करता हुआ छोटा-सा दुकानदार रह जाता है।

इसी प्रकार पैसा लेने-देने में समय और परिणाम में यथा संभव हेर-फेर करने का प्रयत्न न करना चाहिए और यदि किसी भ्रम, भूल या परिस्थितिवश ऐसा हो जाए या करना पड़े तो ईमानदारी से उनका स्पष्टीकरण करने में संकोच न करना चाहिए।

वार्तालाप में सत्यता, शिष्टता एवं देशकाल का विचार रखना चाहिए। सत्य यदि शिष्ट नहीं है अथवा शिष्टता, सत्यता से परे है या यह दोनों बातें देश काल के अनुकूल नहीं है तो अनुचित ही मानी जाएँगी।

संबंध मूलतः छोटे, समान, बड़े पद, योग्यता एवं विशेषता के अनुसार छह प्रकार के होते हैं। जो जिस योग्य हो उससे उसी प्रकार का व्यवहार अपेक्षित है। इसके प्रतिकूल व्यवहार करना किसी भी दशा में ठीक नहीं है, जो जिस योग्य है, उसको उसके अनुरूप स्थान देना बहुत बड़ी व्यवहार कुशलता है। छोटों से स्नेहिल, समानों से निःसंकोच और बड़ों से आदरपूर्वक वार्तालाप करना चाहिए। पद में

बड़े और आयु में छोटे व्यक्ति भी आदर अदब के अधिकारी हैं। अपने से अधिक योग्यता अथवा किसी क्षेत्र में विशेषता वाले (जैसे कला आदि) व्यक्ति भी अपने से बड़े अथवा उच्च पद पर न होते हुए भी सम्मान एवं सद्व्यवहार के पात्र होते हैं। उनसे व्यवहार करने में इन बातों का ध्यान रखना न केवल आवश्यक ही है, अपितु अनिवार्य भी है।

सामंजस्य का अर्थ है अपने को इस तरह का बनाना कि हर व्यक्ति हर परिस्थिति तथा हर स्थान से समुचित समानता दिखला सके। जैसे दूसरे के दुःख में दुःख, सुख में सुख, परिस्थिति से अनुकूलता, स्थान से निरपेक्षता का भाव प्रकट कर सके। किसी के सुख-दुःख में उदासीन रहना, प्रतिकूल परिस्थिति में अधैर्य अथवा अयोग्य स्थान पर क्षोभ अथवा घृणा व्यक्त करना ठीक नहीं है। अपने अवांछित मानसिक आवेगों पर नियंत्रण रखना व्यवहार कुशलता की महत्त्वपूर्ण शर्त है।

इस प्रकार इन व्यवहार संबंधी आवश्यक बातों की शिक्षा देते हुए यदि बच्चों का पालन किया जाए तो कोई कारण नहीं कि वे व्यवहार कुशल न बन जाएँ। प्रारंभ से ही बच्चों में चेतना का विकास किया जाना चाहिए, जिससे वे स्वतंत्र व्यवहार करने की आयु तक पहुँचते-पहुँचते दक्षता प्राप्त कर लें। जिन बच्चों में इन बातों का विकास प्रारंभ से नहीं किया जाएगा वे बच्चे उस आयु तक आवश्यक दक्षता प्राप्त न कर सकेंगे जिसमें पहुँचकर उनका कोई भी व्यवहार महत्त्व रखता है और अच्छा या बुरा माना जा सकता है।

बच्चे जब कुछ समझदार होने लगे यह कार्यक्रम तभी से शुरू कर दिया जाना चाहिए। सबसे पहले उन्हें परिवार के सदस्यों का परिचय कराया जाना चाहिए और उसी अनुसार उनसे व्यवहार का अभ्यास। यह माता है, यह पिता है, वह बड़ी बहिन है, यह बड़े भाई हैं आदि बतलाते हुए यह भी बतलाना चाहिए कि उनके चरण छूना, उसके प्रति आदर रखना उनकी आज्ञा मानना उसका परम कर्त्तव्य है। जो अपने से बड़े हैं, शिष्ट और अच्छे बच्चे उनसे तुम नहीं आप कहकर बोलते हैं। उनसे गुस्सा नहीं करते और न कभी उनका तिरस्कार करते हैं। इसका अभ्यास कराने के लिए जब भी इसमें से

किसी को बुलावाएँ या उसे उनके पास किसी काम से भेजें, तब कभी ऐसा निर्देश न दिया जाना चाहिए, जिससे उसमें कोई अनादर भाव पैदा होने की संभावना रहे। जैसे—'मुखिया को बुला लाओ' 'विमलेश को आवाज देना' या 'देखना, अम्मा क्या करती है ?' इसके विपरीत कहना इस तरह चाहिए कि 'अपनी दीदी जी को बुला लाइये' 'अपने दद्दा बड़े भाई साहब या दादाजी को आवाज दीजिए' 'जरा देखकर आइए कि आपकी माताजी क्या कर रही हैं ?" कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार निर्देश देने से उसमें आदर की भावना ताजी हो उठेगी और उन्हीं शब्दों में उनसे बोलेगा, क्योंकि बच्चों के प्रारंभिक शब्द और संबोधन परिवार के गुरुजनों के ही दिए होते हैं। इस प्रकार हर समय इस बात का ध्यान रखने से वह कुछ ही समय में गुरुजनों से आदरपूर्वक व्यवहार करना सीख जाएगा।

व्यवहार में वार्तालाप का एक प्रमुख स्थान है। जिन बच्चों को शुरू में ही शब्दों और स्वर के संयम का अभ्यास करा दिया जाता है, वे आगे चलकर बड़े मधुर तथा उपयुक्त भाषी हो जाते हैं। शब्दों का गलत उच्चारण करना स्वर को अनावश्यक रूप में ऊँचा-नीचा करके बोलना अथवा वाक्यों को पूर्ण और ठीक न बोलना संभाषण का आकर्षण समाप्त कर देता है, जिससे दूसरों को उसकी बात न समझ में ठीक से आती है और न वे पसंद ही करते हैं। अस्तु शब्द स्वर और वाक्य विन्यास ठीक रखने के लिए बहुत पहले से प्रशिक्षण किया जाना चाहिए।

संभाषण में नम्रता तथा देश, काल और संबंध का विशेष ध्यान रखना चाहिए किंतु जिस भाषण में अधिक से अधिक सत्यता का समावेश नहीं है, वह नम्र और संयत होने पर भी अच्छा नहीं है। इससे बच्चा दूसरे की नजर में झूठा, गप्पी और अविश्वस्त हो जाता है और समाज में उसका आदर नहीं होता है।

इस प्रकार जो बच्चे विनिमय, वार्तालाप संबंध और सामंजस्य के ज्ञान से परिपूर्ण कर दिए जाते हैं, वे निःसंदेह व्यवहार कुशल होकर समाज में अच्छे नागरिक बनकर अपना निश्चित स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

बच्चों के मित्र बनिए

समय के सिर छोड़े हुए बच्चों का विकास जंगली झाड़ियों की तरह होता है, जिनमें फूल कम और काँटे अधिक होते हैं, उसमें भी अधिकतर फूल निर्गंध और गंध वाले फूल भी निरर्थक-निरुपयोगी रह जाते हैं। इसके विपरीत जिन बच्चों का पालन, पालन के रूप में किया जाता है, वे एक चतुर माली के व्यवस्थित उद्यान की भाँति सुंदर और सुगंधित होते हैं।

कुछ अभिभावक स्वभाव से बड़े सख्त और प्रभावशाली होते हैं, उनके आते ही घर में एक कोने से दूसरे कोने तक सन्नाटा छा जाता है। बच्चे जहाँ के तहाँ सहमकर ठिठक जाते हैं, सब खामोश हो जाते हैं। अगर बातें भी करते हैं तो बहुत धीरे जैसे कोई अपराध कर रहे हों—सब एक-दूसरे की ओर आश्रय की दृष्टि से देखने लगते हैं; सारे काम निर्जीव यंत्र की तरह होने लगते हैं, घर के वातावरण में एक निरुल्लास परिवर्तन आ जाता है।

मानने को तो इसे अनुशासन माना जा सकता है किंतु इस प्रकार का नियंत्रण होता है कुछ आतंक की जाति विरादरी का, इसमें अदब से अधिक भय का अंश रहता है और भय की अनुभूति न किसी को पसंद होती है और न उससे कुछ बनता है।

गृह स्वामी के आने से जो एक प्रसन्नतापूर्ण कृतज्ञता परिवार में फैलनी चाहिए, उनके स्थान पर सारे सदस्य एक प्रकार की परेशानी अनुभव करने लगते हैं। बच्चों को खासतौर से अपने मन में मस्तिष्क पर दबाव पड़ता मालूम होता है, जिससे वे बड़े अस्त-व्यस्त हो जाते हैं।

होना तो यह चाहिए कि पिता के आते ही सारे बच्चे पुलकित होकर पिताजी ! पिताजी ! कहते हुए चारों ओर से घेर लें और अपनी-अपनी कहने-सुनने लगें और पिताजी 'अच्छा—हाँ यह बातें कहते हुए हँसते-मुस्कराते बच्चों से घिरे कमरे में पहुँचें, किंतु होता है इसके विपरीत, उनके प्रवेश की आहट पाते ही खेलते और हँसते हुए बच्चे सहसा चुप होकर कतराने लगते हैं। उनके अर्धचेतन में कुछ इस प्रकार प्रतिक्रिया की झलक मार जाती है, अच्छा होता पिताजी अभी थोड़ी देर न आए होते। उनके देर से आने में जल्दी आ जाने

का आभास—अनुभव होता है, यह अनुभूतियाँ श्रेयस्कर नहीं। इससे स्वाभाविक स्नेहिल प्रवृत्तियों का ह्रास हो जाता है।

कुछ अभिभावक बाहर की खीझ घर उतारा करते हैं। मानिए उन्हें दफ्तर अथवा व्यावसायिक स्थान पर कुछ ऐसी स्थिति को सहन करना पड़ा है, जिससे उनके मन में एक क्षोभ पैदा हो गया है। उन्हें कोई गलत बात सुनकर सहन करनी पड़ी है अथवा कुछ नुकसान उठाना पड़ा है, जिससे उन्हें एक मानसिक व्यग्रता है। यह ठीक है कि इस स्थिति में कुछ अच्छा नहीं लगता, फिर भी इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि उसका बदला घर आकर बच्चों से लिया जाए, उन्हें बोलते या पास आते ही झिड़का और डाँटा जाए। क्षोभ का स्थान घर नहीं है, न बच्चे इसके दोषी हैं। बाहर का वातावरण बाहर, घर का वातावरण घर बनाए रखना व्यवहार कुशलता है। इनको एक-दूसरे से बदलना या इनका सम्मिश्रण कर देना अनुचित है, इससे परिस्थिति सँभलती नहीं और बिगड़ जाती है। इसीलिए देश-काल का विचार रखने की रीति पर जोर दिया गया है। अपने भावावेगों पर इतना नियंत्रण अवश्य रखना चाहिए कि वे अयुक्त देश-काल में प्रकट होने पाएँ।

बच्चों से ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए कि वे आपके आने पर प्रसन्न हो उठें और आने के समय आपकी प्रतीक्षा करें। जब वे अपनी-अपनी बातें, शिकायतें और मुकदमे आदि आपके सामने रक्खें तो उनको सुनिए और चतुरता से उनका निराकरण करिए। उनके हँसने-बोलने में हिस्सा लीजिए, बात करिए, कुछ प्रसन्न होइए और उनको प्रसन्न कीजिए, जिससे आपकी उपस्थिति से घर का वातावरण आतंकपूर्ण न होकर प्रसन्नतापूर्ण ही रहे।

अनेक अभिभावक बच्चों की रुचि को कोई महत्त्व ही नहीं देते, सदैव ही उनकी रुचि पर अपनी रुचि स्थापित किए रहते हैं। उनकी छोटी से छोटी रुचि में अपना संशोधन किए बिना नहीं मानते, वे अपने इस विश्वास के वशीभूत रहते हैं कि बच्चा तो अक्ल का कच्चा होता ही है, उसकी पसंद हर हालत में गलत होगी इसलिए उसमें उनका संशोधन आवश्यक है। यद्यपि उस संशोधन में एक आदत के सिवाय कोई गंभीरता नहीं होती तथापि वैसा करेंगे अवश्य।

जैसे—बच्चे ने कहा पिताजी मेरे लिए पीले रंग की पेंसिल लाइयेगा, कि तुरंत पिताजी ने व्यवस्था दी 'तुम तो बेवकूफ हो, पीले, रंग की कहीं अच्छी होती है, पेंसिल तो नीले रंग की ही ठीक होती है।' जहाँ उसने कहा मेरे लिए 'जी' निब लाइयेगा कि तत्काल बोले तभी तो तुम्हारा लेख खराब है, लीफ निब से लिखना चाहिए। इस प्रकार अन्य बड़ी बड़ी चीजों और पसंदगी की बात तो क्या वे ऐसी जरा-जरा-सी चीजों में भी संशोधन किए बिना नहीं मानते और उनके इस संशोधन में कोई स्थाई दृष्टिकोण नहीं रहता। उसके कहने से कभी ठीक बताई हुई चीज खराब और खराब बताई गई चीज अच्छी बतला देंगे, जिससे वह कभी भी यह नहीं जान पाता कि कौन-सी चीज ठीक है और कौन-सी खराब, इससे किसी चीज का चुनाव करने से उसे उलझन होने लगती है। वह हर चीज खराब समझने लगता है, कुछ निर्णय करने में उसे आत्म-विश्वास नहीं रहता।

हर अभिभावक को बच्चों पर कुछ करना ही होता है, उनके लिए चीजें खरीदनी होती हैं, उनकी आवश्यक माँग की पूर्ति करनी होती है। इसलिए अभिभावक अधिकतर करते यह हैं कि वे बहुत दिन तक बच्चों की माँगों और आवश्यकताओं को सुनते रहते हैं और फिर एक दिन सारी चीज लाकर ढेर लगा देते हैं। इस प्रकार एक दिन बाद उनकी इच्छाएँ और रुचियाँ जागृत होने लगती हैं और तब वे आवश्यक न होने पर नई चीजें चाहने लगते हैं, जो ठीक नहीं होता।

अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों की माँग पूरी करने के कार्यक्रम को इस प्रकार विभाजित करें कि उनका हर्ज भी न हो और प्रतिदिन या दूसरे-तीसरे दिन एक न एक नई चीज घर में आती रहे। इस प्रकार बच्चों को प्रतिदिन प्रसन्न और खुश होने का अवसर रहता है और घर का वातावरण प्रफुल्लित रहा करता है, जो पारिवारिक जीवन के लिए बहुत शुभ है। जिन परिवारों में प्रसन्नता और प्रफुल्लता रहती है, वे परिवार धनवान् न होते हुए भी संपन्न दिखाई देते हैं।

अभिभावकों को यथासंभव बच्चों की रुचि की रक्षा करनी चाहिए, उनकी रुचि पर अपनी रुचि को आदतन हठपूर्वक नहीं

थोपना चाहिए, इससे पैसा खर्च करने पर भी बच्चे को संतोष नहीं होता। बच्चों की रुचि और प्रौढ़ों की रुचि में बहुत अंतर होता है, चूँकि बच्चे की अपेक्षा अभिभावकों का उत्तरदायित्व अधिक होता है। इसलिए उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक बच्चों की रुचि से अपनी रुचि का साम्य स्थापित करना चाहिए। जिन बातों में वे समझें कि बच्चे की रुचि ठीक नहीं रहेगी या तो उसमें उनकी रुचि को अवसर ही न दीजिए या उसे ठीक-ठीक पता रहे कि पापा सही कहते हैं, इससे उसमें यह भावना न आने पाएगी कि छोटा होने के कारण उसकी बात नहीं मानी जाती है। अभिभावक के संशोधन में उपयोगिता, लाभ अथवा हित का समावेश अवश्य होना चाहिए। यों ही अकारण संशोधन ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार की आदत स्वयं एक बचपना है जो अभिभावक को शोभा नहीं देता।

बहुत बार बच्चों की बहुत-सी ऐसी उलझनें हो जाती हैं जो उनके सुलझाए नहीं सुलझती। जैसे उनका दो वस्तुओं में से एक के लिए ही भाई-बहनों का उलझना, साथियों से झगड़ा हो जाना, हर काम बिगड़ जाना, पाठ और प्रश्न समझ में न आना, अध्यापक व अन्य गुरुजनों की नाराजगी दूर करना कोई आशंका अथवा भय दूर करना।

ऐसी उलझनें आ जाने पर यह कहकर निराश नहीं छोड़ देना चाहिए कि तुम्हारा मामला है तुम समझो या तुमने खुद जैसा किया उसको भरो। अपितु उनकी उलझन की ध्यानपूर्वक सुनिए और उसको पूरी तरह समझकर या उसे समझाकर दूर करने में उसकी सहायता कीजिए। अपनी पुस्तकें, चीजें और कपड़े-लत्ते आदि रखने-उठाने-धरने और पहिनने आदि में उनकी इस प्रकार सहायता कीजिए कि वे उसमें एक व्यवस्था की शिक्षा पा सकें। बच्चों को कपड़े-लत्ते पहनने, पेटी लगाने, नाड़ा बाँधने, पतलून पहनने, बूट बाँधने-उतारने और खोलने में उनकी तब तक मदद कीजिए जब तक वे कायदे के साथ ठीक-ठीक पहन-ओढ़ और बाँध-खोल न पाएँ, क्योंकि यदि उन्हें शुरू में इसका ठीक-ठीक अभ्यास नहीं हो जाता तो उनकी वह आदत जीवन भर नहीं जाती और परेशानी होती है। गलत गाँठ लगाने और खोलने से कमरबंद में फंदा पड़ जाना,

बनियान का सर में उलझ जाना, उल्टी कमीज उतारना, गलत कोट पहनना, बटन टूट जाना, पेटी उतर जाना आदि रोजमर्रा की बात हो जाती है, इससे उन्हें सदैव परेशानी भी होती है और देखने वाले उन्हें बेवकूफ और बेसऊर समझते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन की साधारण से साधारण बातों में उनकी तब तक अवश्य मदद की जानी चाहिए, जब तक वे ठीक से इसके अभ्यस्त न हो जाएँ। यह छोटी-छोटी उलझनें कभी-कभी बड़े-बड़े हर्ज और हानियों की कारण बन जाती हैं।

बच्चों की दीक्षा के लिए दमनात्मक रवैया नहीं अपनाना चाहिए। अपितु मैत्रीपूर्ण मार्गदर्शन द्वारा ही उन्हें दीक्षित करना चाहिए।

साधारणतः माता-पिताओं का यह विश्वास होता है कि उनकी संतान उनको ईश्वर प्रदत्त ऐसी संपत्ति है जिसको वे जिस तरह चाहें उपयोग में ला सकते हैं। वे अपने सिवाय और तो और स्वयं बच्चे का भी अधिकार उस पर नहीं समझते और अपने इस अधिकार के प्रति सबसे अधिक जागरूक भी रहते हैं। वे सदैव यही चाहते हैं कि उनके बच्चे यंत्रवत् ही आज्ञानुवर्ती रहें और यदि किसी प्रकार वे उनके मौन-मनोभावों के अनुसार परिचालित हो सकें तब तो उनके संतोष का ठिकाना ही न रहे।

किंतु वे यह नहीं सोचते कि जहाँ कोई बच्चा उनकी संतान है, वहाँ वह एक स्वतंत्र इकाई भी है, जहाँ उस पर उनका अधिकार है, वहाँ कुछ अधिकार समाज और राष्ट्र का भी है। किसी का बच्चा होने के साथ-साथ वह समाज का एक घटक भी है, यदि आज वह अपने माता-पिता के सहारे समाज में चलता है तो कल उसे एक स्वतंत्र सदस्य की हैसियत से समाज में व्यवहार करना होगा। यदि उसको व्यावहारिक तैयारी कर समाज में न उतारा गया तो अवश्य ही वह अयोग्य विद्यार्थी की तरह असफल हो जाएगा और भले ही अनिवार्य आवश्यकताएँ उसे कुछ सिखा लें, तथापि वह प्रारंभ से तैयारी किए हुए व्यक्ति की भाँति कुशल न हो सकेगा। निःसंदेह वह समाज में पिछड़ा हुआ और घिसट-घिसट कर चलने वाला पंगु सदस्य होगा, जो न तो समाज से ही कुछ लाभ उठा सकेगा और न समाज को ही उससे कुछ लाभ हो सकेगा। अतएव अपना समझने

के साथ-साथ बच्चे को एक स्वतंत्र मानव मानकर पालन-पोषण किया जाना चाहिए।

उससे ठीक-ठीक वैसा ही व्यवहार करना श्रेयस्कर है जैसा एक सभ्य नागरिक से करना है। उसे जन्मजात अपना अधिशासित समझकर हर समय आदेश की भाषा में न बोला जाए, इससे उसके मानसिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हर समय आदेश की भाषा सुनते-सुनते उसमें खिन्नता और मलीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, उसे हाथ का बरतन मानकर मिनट-मिनट पर छोटे-छोटे कामों के लिए दौड़ाना ठीक नहीं। इससे कर्त्तव्यों के प्रति अरुचि और गुरुजनों के प्रति अश्रद्धा होने लगती है, जिससे वह उनसे मुँह छिपाने की कोशिश करने लगता है।

बच्चों को महत्त्वहीन समझकर व्यवहार करने से वे अपने को नगण्य और अनुपयोगी समझने लगते हैं, जिससे आगे चलकर उनमें आत्म विश्वास की कमी हो जाती है। किसी काम के न कर सकने अथवा बिगड़ जाने पर उनकी खिल्ली उड़ाना अथवा उनके किसी बचपने से मनोरंजन करना उचित नहीं है, इससे वे हतप्रभ और चिड़चिड़े हो जाते हैं। उनकी किसी निर्णय में दी हुई राय, कही हुई बात को, भले ही वह कोई अर्थ न रखती हो—एकदम बहिष्कृत कर देने से उनकी हिम्मत टूट जाती है, जिससे ठीक बात कह सकने में भी हिचकने लगते हैं। उनसे बात-बात में यह कहना 'अजी तुम क्या जानो' अभी बच्चे हो' अच्छा स्वभाव नहीं है, उससे आगे बढ़ते हुए उनके बुद्धि-तत्त्व को धक्का लगता है, जिससे उनमें अयोग्यता अंकुरित हो सकती है।

इस प्रकार के और न जाने कितने व्यवहार हैं, जो बच्चों से नहीं किए जाने चाहिए, किंतु अभिभावक अपनी गुरुता के गर्व में बच्चों संबंधी व्यवहार में सोच-विचार करना अपने गौरव के अनुरूप नहीं समझते, जबकि यही सबसे बड़े गौरव की बात है कि उनके व्यवहार से बच्चे होनहार बनकर समाज में अपना स्थान निर्धारित कर सकें।

बच्चों की सहज अनुकरण बुद्धि और सुकुमार मानसिक धरातल को ध्यान में रखकर ही व्यवहार करना चाहिए, जिससे यदि

वे अनुकरण करें तो अच्छी बातों का और यदि कोई संस्कार उनके मन पर पड़े तो अच्छा ही पड़े।

बच्चों के पालन-पोषण का अर्थ केवल यही नहीं है कि भूख लगने पर रोटी खिला दी जाए, कपड़े फटने पर कपड़े बनवा दिए जाएँ, माँगने पर पैसे दे दिए जाएँ और जरूरत पड़ने पर पुस्तकें आदि ले दी जाएँ और इससे अधिक कुछ किया तो स्कूल की ओर खदेड़ दिया, बाकी अपना खेलो-कूदो, पढ़ो-लिखो और बड़े होते रहो।

बच्चों का पालन-पोषण केवल अपनी व्यक्तिगत संपत्ति समझकर ही नहीं, राष्ट्र-समाज की धरोहर मानकर करना चाहिए। समाज की आगामी आवश्यकता को ध्यान में रखकर, उसका निर्माण ठीक उस जिम्मेदारी से करना चाहिए, जिस प्रकार एक शिल्पी कोई भवन बनाता है अथवा कोई ईमानदार इंजीनियर पुल का निर्माण कराता है।

बच्चों को क्षमता भर सुंदर से सुंदर वातावरण में रखना चाहिए, उनसे आदरपूर्वक बात की जानी चाहिए जिससे उनके मन पर ऊँचे संस्कारों की छाप पड़े। जहाँ तक हो अधिक से अधिक उस स्तर की परिमार्जित भाषा में बात करनी चाहिए, जिस स्तर की कक्षा में वे पढ़ रहे हों। इससे उन्हें अच्छी भाषा बोलने-समझने का अभ्यास होगा और उनका शब्दकोश बढ़ेगा, उनसे दिन में अवकाश के समय नियमित रूप से देश-विदेश के ऐसे विषयों पर कुछ न कुछ बात अवश्य करनी चाहिए, जिसको वे किसी हद तक समझ सके और जिनमें उनकी रुचि और हित सन्निहित हो। इससे उनकी विचार परिधि का प्रसार होगा और उनमें सार्वदेशिक एवं सार्वभौमिक चेतना का स्फुरण होगा।

बच्चों को अदब सिखाने के लिए आवश्यक है कि उनका भी अदब किया जाएँ, उन्हें साधारण सामाजिक शिष्टाचार की शिक्षा दी जाए और परिवार में गुरुजनों तथा भाई-बहिनों के साथ अभ्यास कराया जाए, उनकी झिझक दूर करने और मिलनसार बनाने के लिए घर आए अतिथियों और मित्रों का स्वागत करते समय उनके बच्चों का स्वागत बच्चों से कराना अधिक श्रेयस्कार होगा। आगंतुकों के समक्ष उनसे ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने को परिवार का महत्त्वपूर्ण अंग अनुभव कर सकें। इससे परिवार के

माध्यम से उनमें सद्‌भावना का भाव बढ़ेगा और दूसरों के मन में उनके प्रति आदर उत्पन्न होगा। नवागंतुकों के साथ परिचय कराते समय ऐसी शैली का प्रयोग किया जाना चाहिए जैसे वे एक-दूसरे के पूरक हों।

कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों को ऐसे व्यवहार और वातावरण के बीच रखा जाना चाहिए। जिसमें उनके बड़प्पन और विनम्रता की भावना बढ़े। अवसर आने पर उन्हें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सुंदर स्थानों पर साथ ले जाना चाहिए। इससे उनमें ज्ञान की वृद्धि होने के साथ-साथ नवीन स्थानों के आचार-विचार और रहन-सहन से भी परिचय होगा, जो आगे चलकर उनको बहुत काम देगा।

इस प्रकार यदि प्रयत्न करके बच्चों की वर्तमान पीढ़ी को सभ्य सामाजिक बनाकर जीवन क्षेत्र में उतारा जाए तो कोई कारण नहीं है कि आज का सड़ा-गला समाज सुंदर और स्वस्थ रूप में न बदल जाए।

बच्चों की इस सामाजिक शिक्षा के लिए परिवार ही सबसे उपयुक्त संस्था है, क्योंकि इसके सब सदस्य एक-दूसरे के स्वभाव से भली-भाँति परिचित होते हैं और एक नैसर्गिक संबंध सूत्र में बँधे होते हैं। भाई-बहिनों के बीच अपने अभिभावकों की सहायता से वे जितना सुंदर और स्थायी शिक्षण परिवार में पा सकते हैं, उतना किसी बाहरी शिक्षा केंद्र में नहीं। परिवार में छोटे-बड़े, तरुण-वृद्ध, स्त्री और पुरुष सभी प्रकार के सदस्य स्वभावतः उपलब्ध रहते हैं, जिनके बीच क्या मौखिक और क्या व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा सहज रूप में दी जा सकती है। परिवार में शिक्षण के सारे उपादान और साधन पहले से ही मौजूद रहते हैं, उनको नए सिरे से संचय करने अथवा जान-बूझकर शिक्षण के लिए अनुकूल अवसर और अवस्थाएँ तैयार करने की आवश्यकता नहीं है। परिवार में सब कुछ एक प्राकृतिक प्रवाह में चलता रहता है। कृत्रिमता से रहित जिस सहज स्वाभाविक सामाजिकता की आवश्यकता है, उसका ठीक-ठीक शिक्षण परिवार के अतिरिक्त और कहीं नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार कहना असत्य न होगा कि समय और समाज के अनुकूल जिस नागरिक ने अपना एक भी बच्चा सभ्य सामाजिकता के साथ आज राष्ट्र को दे दिया, उसने मानो एक अश्वमेध यज्ञ करने के बराबर पुण्य प्राप्त कर लिया।

शिक्षा और दीक्षा दोनों के संतुलित समन्वय से विकसित व्यक्तित्व को राष्ट्र की सेवा में अर्पित करना सचमुच एक महान पुण्य है।

❑ ❑

बालकों की पढ़ाई का ध्यान रहे

मनुष्य जीवन की तीन आधारभूत प्राथमिक आवश्यकताएँ कही गई हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। पर विचारशील एक और चौथी आवश्यकता भी अनिवार्य मानते हैं। वह आवश्यकता है शिक्षा। भरपेट भोजन, शीत गर्मी से बचाव के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान तो स्थूल आवश्यकताएँ हैं, जो दिखाई देती हैं पर चौथी आवश्यकता शिक्षा की गणना शायद इसलिए नहीं की गई हो कि करोड़ों लोगों का जीवन उसके बिना भी चल रहा था। अभावग्रस्त स्थिति का जहाँ तक प्रश्न है, असंख्य लोग ऐसे हैं; जिनके पास अपना घर नहीं हैं, पहिनने-ओढ़ने को पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं और शरीर का समुचित पोषण हो सके वैसा संपूर्ण भोजन नहीं मिल पाता।

लेकिन प्राथमिक आवश्यकताएँ तो हैं। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का अधिक महत्त्व है, वृक्ष की अपेक्षा बीज अधिक कीमती होता है। उसी प्रकार प्राथमिकता का क्रम जमाना हो तो आज के समय में मनुष्य को भोजन, वस्त्र और मकान की अपेक्षा शिक्षा का पहला स्थान है। अशिक्षित और गँवार लोग थोड़ा बहुत मेहनत-मजदूरी से या सामान्य अकल से कमाते हैं तथा उस कमाई का जिस तरह उपयोग करते हैं, उससे उनकी स्थिति ज्यों की त्यों ही बनी रहती

है; जबकि शिक्षित और सभ्य व्यक्ति उतनी ही आमदनी में अच्छी प्रकार गुजारा कर लेते हैं।

भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकताएँ स्वयं पूर्ण करने की जिम्मेदारी तो युवावस्था में आती है। बचपन में माता-पिता से ही वे पूरी होती रहती हैं, उनकी पूर्ति का दायित्व उन्हीं पर रहता है। विशेष ध्यान जिस प्राथमिक आवश्यकता पर अभिभावकों द्वारा दिया जाना चाहिए, वह है बच्चों की शिक्षा-दीक्षा। शिक्षा का मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसकी और बचपन से ही ध्यान दे दिया जाए तो ठीक अन्यथा आगे मुश्किल है।

इसीलिए प्राचीन मनीषियों ने यह मर्यादा बाँध दी थी कि बच्चा पाँच वर्ष तक का होते ही गुरुकुल भेज दिया जाना चाहिए ताकि वह विद्याध्ययन द्वारा अपनी क्षमताओं का विकास कर सके। कई स्थलों पर कहा गया है—'जागतिक सुख और पारलौकिक आनंद की प्राप्ति का साधन विद्या ही है। सभी उत्कृष्ट कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञानपूर्ण कर्म में ही होती है तथा उसी से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास संभव होता है।'

प्राचीनकाल में विद्या का अर्थ व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमताओं के विकास की सामर्थ्य किया जाता था। यही कारण था कि उन्हें विषय विशेष के साथ सामान्य ज्ञान की जानकारी भी दे दी जाती थी और इस पद्धति से दी जाती थी कि छात्र उसके प्रभाव को अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् कर ले।

इस स्तर की विद्या का प्रबंध आज भले ही संभव न हो पर जैसी भी शिक्षा है, वह जीवन में उपयोग तो आती ही है। जिस युग में हम निवास कर रहे हैं वह जनता का युग है। प्रजातंत्र का युग है और प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है, जबकि उस देश के नागरिक सुशिक्षित और समझदार हों।

शिक्षा की उपयोगिता कदम-कदम पर अनुभव की जाती है। अशिक्षित व्यक्ति अपने आस-पास के वातावरण से तो अनभिज्ञ रहता ही है समय और समाज की गति तथा परिस्थितियों से भी अपरिचित रहता है। फलस्वरूप उसे कदम-कदम पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। अपनी समस्याओं का समाधान वह गाँठ की अक्ल से

नहीं कर सकता, अपनी स्थिति के समाचार और दूरस्थ स्वजनों की सहायता पत्र लिखकर प्राप्त नहीं कर सकता न उनके समाचारों को जान सकता है। बाजार में सबसे अधिक उसी के ठगाने का डर रहता है, किसी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना ही नुकसान कर बैठने की संभावना भी उसी के साथ अधिक जुड़ी रहती है। यहाँ तक कि वह दूरी की यात्रा भी निरापद रूप से नहीं कर सकता। जो काम बूते का हो उसे कर लेना, उससे जो मिले उसके औने-पौने में अपना गुजारा चला लेना और अपने जैसे ही बच्चे पैदा कर डालना, इसी परिधि में उसका सारा जीवन-चक्र घूमता रहता है और आरंभ से लेकर अंत तक अस्त-व्यस्त जीवन गुजार देता है।

अभिभावकों की जरा-सी नासमझी का कुफल उनकी संतानों को सारे जीवन भर भोगना पड़ता है। यद्यपि हमारे देश में शिक्षा-प्रसार की ओर ध्यान दिया गया है तथा उसके लिए जोरदार असरकारी कदम उठाए गए हैं, पर शिक्षितों की संख्या अभी तीस प्रतिशत से अधिक नहीं पहुँच सकी है। सौ में से तीस आदमी शिक्षित हैं, जिनमें से अधिकांश की शिक्षा अक्षर ज्ञान तक सीमित है। सरकार कितना ही प्रचार करे, जब तक माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे, तब तक संतोषजनक उपलब्धियाँ मिलना मुश्किल है। आज के बच्चे कल के नागरिक हैं, भविष्य का भारत उन्हीं के हाथों में जाएगा और वे अशिक्षित तथा अज्ञानग्रस्त ही रहे तो राष्ट्र का भविष्य क्या होगा और उसके लिए जिम्मेदार होंगे आज के अभिभावक, भावी पीढ़ी के निर्माता, जो यह सोचते हैं कि बच्चों के लिए शिक्षा की क्या आवश्यकता जो धंधा हम करते हैं, वही बच्चों को सिखा देंगे। आप हल-बैल से खेती करते हैं और उन्नत किसानों ने ट्रैक्टर से खेती करना सीख लिया है। आपके हल-बक्खर से तो आपका बच्चा जमीन भी नहीं जोत पाएगा और शिक्षित किसान बीज डाल लेगा तथा उसमें अंकुर फूटने लगेंगे।

आने वाला युग प्रतिस्पर्द्धा का युग है। हर व्यक्ति अपनी योग्यता का स्तर दूसरों से अधिक से अधिक उन्नीस रखकर ही जी सकेगा

अन्यथा वह बर्बाद हो जाएगा और उसकी बर्बादी का कारण होंगे माता-पिता, जिन्होंने अपने बच्चों को शिक्षित और योग्य बनाने की बात ही नहीं सोची। उल्टे उन लोगों की हँसी उड़ाई जो अपने बच्चों को दो मील दूर स्कूल भेजते हैं।

ऐसे अभिभावकों के लिए ही कहा गया है—"माता-पिता बैरी भये जो न पढ़ाए बाल।" शास्त्रकारों ने भी स्पष्ट घोषणा की है कि 'माता बैरी पिता शत्रु जे नः बालक पठिताः। वह माता बैरी है और वह पिता शत्रु है जिन्होंने अपने बालक को समुचित रूप से शिक्षा देने की ओर ध्यान नहीं दिया।

अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना पशु से की गई है तथा कहा गया है कि बिना पढ़े नर पशु कहावें, ऐसा क्यों कहा गया है। एक बच्चा सौभाग्य से पढ़-लिखकर विद्वान बन गया और दूसरा घर-गृहस्थी का ही काम सम्हालता है। दोनों ही बच्चे एक ही माँ-बाप की संतान हैं पर दोनों में बड़ा अंतर आ जाता है। यह बात अलग है अनपढ़ भी शाम तक अपने भोजन की व्यवस्था कर ले, लेकिन बोलचाल और रहन-सहन में जमीन-आसमान का अंतर रहेगा। पढ़ा-लिखा सलीके से बात-चीत करेगा, आगंतुक का द्वार पर स्वागत करेगा व्यवहार कुशल होगा और अपना रहन-सहन सुसंस्कृत मनुष्यों जैसा रखेगा, जबकि बिना पढ़ा-लिखा व्यक्ति न तो तरीके से बातचीत कर सकेगा न व्यवहार कुशलता बरतेगा। ऐसे व्यक्ति को मनुष्य श्रेणी से अलग रखा जाए तो अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि उसके साथ माता-पिता ने शत्रुतापूर्ण बर्ताव किया है।

❑ ❑

स्कूल भेजने के साथ यह भी ध्यान रहे

स्कूल में भर्ती कराने के बाद बच्चों का एक नया संसार प्रारंभ होता है। अब तक वे अपने माँ के शासन में रहने का

अनुभव करते थे, स्कूल जाना आरंभ करने के बाद किसी दूसरे व्यक्ति का, जो परिवार से बाहर का है शासन अनुभव होता है। अब तक वे परिवार के या आस-पड़ौस के बच्चों के साथ रहते थे, स्कूल में प्रवेश करते ही उनके अनुभव में बाहर के बच्चों का अहसास होता है। हर तरह से बच्चों के लिए पहली बार स्कूल जाना अपने ढंग का नया अनुभव है। प्रौढ़ दृष्टि से देखने पर भले ही इस बात का कोई महत्त्वपूर्ण न लगे परंतु बच्चों के लिए यह नई, अति महत्त्वपूर्ण और चौंका देने वाली घटना है। उस समय की अनुभूतियाँ वयस्क होने तक बहुत कुछ विस्मृत हो जाती हैं, पर फिर भी याद की जाएँ तो घबराहट, हैरानी और आश्चर्य की एक झलक तो मिल ही सकती है।

यही कारण है कि स्कूल में घुसते ही बच्चे हिचकिचाने लगते हैं। वहाँ उनका जी घुटने लगता है, स्कूल का वातावरण उन्हें एक कारागार की तरह लगता है, जहाँ से वे जल्दी से जल्दी बाहर निकल जाना चाहते हैं, अतः बच्चों को स्कूल भेजते समय काफी मनोवैज्ञानिक समझ-बूझ रखने की आवश्यकता है अन्यथा बच्चों के मन में स्कूल के प्रति एक स्थायी अरुचि घर कर जाती है और वे चाहकर भी कभी अच्छे विद्यार्थी नहीं बन सकते।

मनोवैज्ञानिक बातों का ध्यान रखते हुए भी बच्चों के मन से यद्यपि समूची हिचकिचाहट तो दूर नहीं की जा सकती, पर उनके मन में वह क्षमता अवश्य उत्पन्न की जा सकती है, जो नए वातावरण के अनुकूल बनने का आत्म-विश्वास दिला सके। बच्चा स्कूल में प्रारंभिक दिनों में उस प्रकार प्रवेश करता है जैसे बतख का बच्चा तालाब में उतर रहा हो, जाना पड़ रहा है—यह विवशता है और जाने का मन नहीं है क्योंकि आस-पास सब कुछ नया ही नया और अनदेखा-सा है।

अतः स्कूल भेजने से पूर्व बच्चों को ऐसी साथी ढूँढ़ने में मदद देनी चाहिए जो उसी की उम्र का हो और जिस कक्षा में भर्ती कराना है उसमें ही पढ़ता हो। जहाँ तक हो सके आसपास का ही बच्चा तलाश करना चाहिए, ताकि बच्चा अपने आसपास

फैले नए वातावरण में किसी को तो अपना विश्वस्त साथी पा सके। नएपन की हिचकिचाहट दूर करने के लिए कुछ और पूर्वाभ्यास भी किए जा सकते हैं, जैसे अपनी मौजूदगी में उसे किसी नए स्थान पर ले जाना, पास ही कहीं किसी काम से नई जगह पर अकेले भेजना।

स्कूल में उसे कई बच्चों का साथ मिलता है, जिनकी संख्या काफी बड़ी होती है, बच्चा अक्सर भीड़-भाड़ से भी घबराता है। अतः उसे पहले अपने समवयस्क बच्चों के साथ मेल-जोल बढ़ाने का अवसर देना चाहिए, ऐसा होने पर उसे स्कूली साथियों के साथ हिलमिल जाने में सहायता मिलेगी।

स्कूल में भर्ती करा देने के बाद अपनी सावधानियों से संतोष नहीं कर लेना चाहिए। बाद में भी अनवरत उसके स्कूली जीवन के प्रति स्वयं रुचि लेनी चाहिए और उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए। आरंभ में बच्चे स्कूल में भर्ती कराने के बाद अनियमितता बरतने लगते हैं। चार-छह घंटे एक स्थान पर बँधे रहना उन्हें रुचिकर नहीं लगता। अतः वे अपने दूसरे अन्य साथियों के साथ स्कूल से भाग आते हैं और कहीं पर खेलते रहते हैं। अतः इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा नियमित रूप से स्कूल जा रहा है अथवा नहीं, नियमितता की यह आदत उस समय अच्छी तरह जानी जा सके तो आगे वे अपना जीवन सुव्यवस्थित रखने के अभ्यस्त हो सकते हैं।

स्कूल जाने में अनियमितता बरतने का कारण भी वहाँ के वातावरण का अजनवीपन है। अतः माता-पिता दोनों को मिलकर उसे वहाँ के अजनवी वातावरण के प्रति जिज्ञासु और श्रद्धालु बनाना चाहिए। इस दिशा में उनसे स्कूली कार्य-कलापों के संबंध में प्रश्न वहाँ के अध्यापकों की बातें, साथियों और सहपाठियों की जानकारी आदि प्रश्न जानते रहना चाहिए। माता-पिता के लिए ये जानकारियाँ भले ही व्यर्थ हों, पर इनसे बच्चों में एक जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होता है और वह स्कूल के प्रति और भी तीव्र लगन रखने लगता है।

पाठशाला जाते समय बच्चों को स्नेहपूर्वक विदा करना, प्रोत्साहन देना तथा लौटने पर प्रशंसात्मक बातें करना तुरंत प्रभाव उत्पन्न करता है। पाठशाला से लौटने पर बच्चे थक से जाते हैं। स्कूली टाइम में अनवरत श्रम करते रहने के कारण उनकी बाल सुलभ शक्तियाँ सहलाए जाने की अपेक्षा करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में इस प्रकार की बात उनके लिए टानिक का काम करती हैं, ऐसे वक्त पर तो भूलकर भी ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए, जिससे बच्चों को कष्ट का अनुभव हो। थक जाने पर प्रौढ़ व्यक्तियों को भी बहुत जल्दी क्रोध आता है और उस समय व्यक्ति की संवेदना काफी नम रहती है। फिर वे तो बच्चे ठहरे, अतः उन्हें ऐसी बातें कहकर व्यर्थ नाराज करना उत्साह तोड़ देने जैसा है। जैसे बच्चा स्कूल से लौटकर कहता—माँ हम आ गए। झिड़ककर यह कहने की बजाए कि आ गए तो अच्छा किया, कौन-सा तीर मार लाए। यह कहा जाए कि राजा बेटा आ गया, कब आए, यह तो तुमने पता ही नहीं चलने दिया—बच्चे की सुखद अनुभूतियों को कितना चेतन करता है ?

स्कूली जीवन आरंभ करने के साथ बच्चों में स्वावलंबन की आदत डालने का प्रयास भी उसी समय किया जा सकता है। रुचिकर समय मिलने पर उन्हें कपड़े पहनना, बालों में कंघी करना, जूते पहिनना जैसी बातें सिखाना चाहिए। यह नहीं कि किसी काम में लगे रहने पर खुद ही तैयार हो जाओ कह दें, वरन् जब अपने पास भी समय हो, तब उसे प्रोत्साहित करते हुए इन कार्यों का प्रशिक्षण दें। दैनिक कार्यों का प्रशिक्षण व्यस्तता या शीघ्रता के लिए नहीं संस्कार, स्वभाव के लिए देना चाहिए और इसके लिए शांत वातावरण ही अधिक उपयुक्त है।

अपने नए जीवन में बच्चा नए समवयस्क लड़कों के संपर्क में आता है और अनेकों से प्रभावित होता तथा अनेकों से घृणा करता है। जिन बच्चों से प्रभावित होता है, उनका साथ करने की भी चेष्टा करता है। ऐसे समय में पूरी सावधानी रखनी चाहिए और वह कैसे बच्चों के साथ रह रहा है तथा उनकी प्रवृत्ति और स्वभाव कैसा है ? इनका ध्यान रखना चाहिए। पाठशाला की संगति के संबंध में बच्चे

के दूसरे साथियों, अध्यापकों और स्वयं बच्चों से जाना जा सकता है। उसके व्यवहार, रहन-सहन और आदतों में आए परिवर्तनों से भी इन बातों का पता चलाया जा सकता है। कहना नहीं होगा कि कुसंगति से बचाया जाना चाहिए तथा अच्छे बच्चों का साथ करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

बच्चे स्वभाव से चंचल और गैर-गंभीर होते हैं, परंतु कक्षा में उन्हें एकाग्रता और शांति से बैठना पड़ता है। शरारती बच्चों को भी पढाई के समय अपने पर अंकुश रखना पड़ता है। यही कारण है कि बच्चे छुट्टी होने पर जब स्कूल से निकलते हैं तो जोर से शोर करते हैं। एक प्रकार से उनके स्वभाव में आई थकान का ही यहाँ निराकरण होता है। इस प्रवृत्ति को घर पर ही दिशा देनी चाहिए और वे संध्या समय थोड़े-बहुत खेलों से अपनी मानसिक थकान मिटा लें—इसका प्रबंध करना चाहिए।

यदि बालक को शिक्षित बनाना चाहते हैं तो अभिभावकों को बालक की शिक्षा के प्रति जो उदासीनता है, उसे त्यागना होगा। बच्चा स्कूल की अपेक्षा घर पर अधिक समय व्यतीत करता है। इस समय यदि उसे कोई निर्देशक नहीं मिल पाया तो बालक भी अध्ययन के प्रति आधा मन रखेगा। अस्तु, अभिभावक इस उत्तरदायित्व का वहन ऐसा समझकर करें कि यह उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, जिसे उन्हें पूरा करना ही है। यदि अभिभावक इस ओर आगे बढ़ गए तो बालक को शिक्षा के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। शिक्षा और दीक्षा दोनों की इस प्रकार से चित्त व्यवस्था करने पर बालकों के व्यक्तित्व का उत्कृष्ट बनते चले जाना स्वाभाविक ही नहीं सुनिश्चित हो जाता है।

□ □

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा